अरविन्द साहित्य

- महायोगी श्री अरविन्द
- क्रान्तियोगी श्री अरविन्द
- श्री अरविन्द विचार दर्शन
- श्री अरविन्द साहित्य दर्शन

अरविन्द प्रकाशन, दिल्ली-६

क्रान्तियोगी श्री अरविन्द

डा० श्याम बहादुर वर्मा
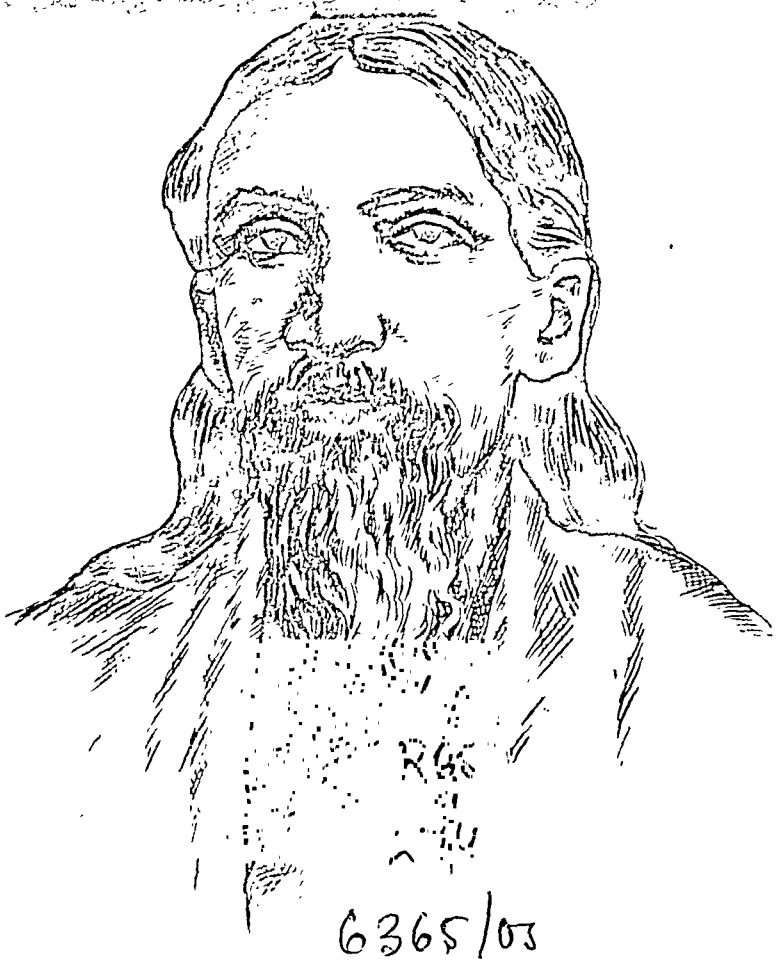
प्रकाशक : अरविन्द प्रकाशन
२०५, चावड़ी बाजार, दिल्ली-११०००६
मूल्य : पंद्रह रुपये मात्र
संस्करण : १९७४
मुद्रक : रूपक प्रिंटर्स,
नवीन शाहदरा, दिल्ली-११००३२

KRANTIYOGI SHRI ARVIND : Dr. Shaym Bahadur Verma
Price : Rs. 15.00

भूमिका

स्वतन्त्र भारत का यह दायित्व है कि वह उन स्वप्नों को पूरा करे जिनके लिए स्वातन्त्र्य-संग्राम में लाखों व्यक्तियों ने अपने तन, मन, धन, यौवन और जीवन स्वाहा कर दिये थे। दुर्भाग्यवश विगत २५ वर्षों में भारत ने इस कर्तव्य की उपेक्षा की है। संकुचित राजनीतिक दृष्टिकोण ने देश के इतिहास का स्पष्ट चित्र युवकों के सामने उभर कर नहीं आने दिया। क्षुद्र आर्थिक प्रलोभनों के जाल में जनता को फांसकर उसे जीवन की उच्चतर उपलब्धियों से प्रायः उदासीन किया गया। धर्म के नाम पर अपनी निजी दुकानें चलाने वालों ने देश-विदेश की आंखों में धूल झोंक कर उत्कृष्ट महापुरुषों के साधना-पथ और शिक्षाओं से भारतीय जीवन को भटकाने का प्रयास किया। राष्ट्र की शिक्षा-पद्धति ने पुरानी लकीर पीटने के कारण गौरवमय भारत के निर्माण के स्थान पर निराश, हताश, ध्वंस के पुजारी तथा हर दृष्टि से असंतुष्ट हृदयों तथा 'शैतान का घर' जैसे मनों का ही निर्माण किया। जनतन्त्र के गलत प्रयोग ने अनुशासन को, संगठित राष्ट्र-शक्ति को बिखेरा ही, बढ़ाया नहीं। और यह सब केवल इस कारण हुआ कि हमारे समाज के नेताओं ने उन्हें भुला दिया जो स्वातन्त्र्य-संग्राम की मूल शक्ति के रूप में कुछ आदर्शों व स्वप्नों को राष्ट्र के मन में प्रतिष्ठित कर पाए थे।

जिन्होंने अपने आई० सी० एस० के आकर्षण भरे-पद को भारतमाता की उपासना के लिए ठुकरा दिया, स्वेच्छा से गरीबी के मार्ग को चुना जिससे राष्ट्र के शत्रुओं—अंग्रेज़ों—के विरुद्ध सशस्त्र तथा अन्य प्रकार से संघर्ष किया जा सके, जिन्होंने 'पूर्ण स्वराज्य' का सर्वप्रथम उद्‌घोष ही नहीं किया, अंग्रेज़ों के संकेतों पर चलने वाली कांग्रेस से उसे उद्‌देश्य रूप में स्वीकृत भी करा दिया, उन श्री अरविन्द का हम पर कितना ऋण है, क्या हमने कभी सोचा है ? जिन श्री अरविन्द ने क्रांतिकारी गतिविधियों को न केवल बंगाल में सुघटित ही किया अपितु उसे राष्ट्रीय स्वरूप देने का प्रयास भी किया, जिन्होंने अपने काल के तरुणों को देशभक्ति के लिए हँस-हँसकर प्राण समर्पित करने की प्रेरणा दी, जिन्होंने स्वयं ब्रिटिश शासनतंत्र में मृत्यु को खिलवाड़ समझकर भारतमाता की साहसपूर्ण उपासना की, उन स्वातन्त्र्य-योद्धा श्री अरविन्द को भारत का युवक ही नहीं, प्राध्यापक, वकील और बैरिस्टर भी, व्यापारी और डाक्टर भी, राजनीतिज्ञ और प्रशासक भी कितना कम जानता है ! और उस परतंत्र भारत में पत्र-सम्पादक के रूप में इंग्लैंड के सम्पादकों को भी चकित कर देने वाली तथा भारत-जन-गण-मन को साहस व प्रेरणा से भर देने वाली उनकी लेखनी को भारतीय सम्पादक ही कितना जानते हैं ? बुद्धिजीवियों का यह हाल देखकर आश्चर्य होता है !

हां, आश्चर्य होता है ! श्री अरविन्द जन्म-शताब्दी पर स्थान-स्थान पर हुए भाषणों को सुनने से यह स्पष्ट हो गया कि उन्हें भारतीय समाज कितना कम जानता

है। एक एम० ए० कक्षाओं के प्राध्यापक ने श्री अरविन्द घोष को 'रासविहारी घोष का साथी' कहा, एक अन्य ने सुभाषचन्द्र बोस का। पत्रों के सम्पादकीय भी प्रायः चालू प्रकार के ही थे। महात्मा गांधी जब भारतीय राजनीति में उतरे भी नहीं थे, तब तक भारतीय स्वातन्त्र्य-संग्राम को अद्‌भुत मोड़ देकर, राष्ट्रीयता के आध्यात्मिक अधिष्ठान को प्रतिष्ठित करके, पूर्ण स्वराज्य को भारत की अनिवार्य आवश्यकता बताकर, स्वाधीन भारत का लक्ष्य घोषित करके श्री अरविन्द पांडीचेरी भी जा चुके थे। उन श्री अरविन्द के विषय में यह अज्ञान ! यह उपेक्षा !

साथ ही, यद्यपि यह सत्य है कि श्री अरविन्द एक महान दार्शनिक और योगी के रूप में अधिक महत्त्वपूर्ण माने जाते हैं किन्तु क्या हम भारतीयों के लिए उनके स्वातंत्र्य-योद्धा रूप का विशेष महत्त्व नहीं है ? उनका विश्व को दिया गया सन्देश सभी राष्ट्रों के लिए मननीय, अनुकरणीय और उपादेय है। किन्तु उनका भारत को दिया गया सन्देश सुनना, स्मरण रखना, कार्यान्वित करना तो हम भारतीयों के लिए ही परम कर्तव्य है।

बस, इसी को ध्यान में रखकर यह जीवन-चरित्र प्रस्तुत है। इसमें श्री अरविंद के उत्तरपाड़ा-भाषण तक के क्रान्तियोगी जीवन की झांकी है। यद्यपि बाद में वे लगभग दो वर्ष ब्रिटिश भारत में और भी रहे और फिर चन्द्रनगर होकर पांडीचेरी चले गए जहां उन्होंने आध्यात्मिक साधना तथा चिन्तन की दृष्टि से महान कार्य किए तथापि उत्तरपाड़ा-भाषण श्री अरविन्द-चेतना की विकास-यात्रा में एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि का सूचक है। उनके राजनीतिक जीवन को उसके पश्चात् आध्यात्मिक परिप्रेक्ष्य में ही समझा जाना चाहिए, सामान्य रूप में नहीं। इस कृति की रचना ऐसे पाठकों के लिए की गई है जो श्री अरविन्द के राजनीतिक जीवन को ऊपरी तल पर ही नहीं, कुछ गहराई से देखना चाहते हैं। यह एक ऐसे असामान्य क्रान्तिकारी का जीवन है जिसका जीवन योग की भूमिका पर अधिष्ठित था।

प्रस्तुत कृति को तैयार करने में श्री अरविन्द के साधक भक्तों तथा अन्य अनेक विद्वानों की कृतियों से जो सहायता मुझे मिली है उसके लिए मैं उनका अत्यधिक ऋणी हूं। अनुशीलन पुस्तकालय (बरेली), डी० ए० वी० सांध्यकालीन पुस्तकालय (दिल्ली), आदि से मिली सहायता के लिए मैं उनके अधिकारियों के प्रति कृतज्ञ हूं। श्री देवेन्द्र स्वरूप अग्रवाल, कु० सरोज शर्मा, भाई धर्मेन्द्र वर्मा आदि की बहुविध सहायता के लिए मैं उनके प्रति हृदय से आभारी हूं।

स्वातन्त्र्य-योद्धा श्री अरविन्द की यह संक्षिप्त जीवन-झांकी उनके स्वप्नों के अनुरूप भारतवर्ष को गठित करने की दिशा में पाठकों को कुछ भी प्रेरणा दे सके, तो मेरा परिश्रम सफल होगा।

—श्यामबहादुर वर्मा

विषय-सूची

१. वन्दे मातरम्

वन्दे मातरम् !

माता की जय हो ! भारतमाता की जय हो !

भारतमाता ?

हां, जिसका स्थूल रूप भारतवर्ष की भूमि है पर जो अपने दिव्य रूप में साक्षात् भगवती शक्ति है, दुर्गा है, त्रिपुरा है, अन्नपूर्णा है, जगज्जननी है, वह भारतमाता !

सहस्रों शताब्दियों से जो पृथ्वी के हृदय के रूप में प्रतिष्ठित है, जिसने लक्ष-लक्ष ऋषियों, आचार्यों, संतों, दार्शनिकों, भक्तों, योगियों, कवियों, वैज्ञानिकों, कलाकारों, वीरों, सम्राटों इत्यादि को जन्म देकर विश्व को साजाया-संवारा है, प्रगति-पथ पर बढ़ाया है, वह भारतमाता !

जिसने विश्व-भर को विष के प्रत्युत्तर में अमृत, घृणा के प्रत्युत्तर में प्रेम, अत्याचार के प्रत्युत्तर में करुणा, भीरुता के प्रत्युत्तर में साहस, दुर्वलता के प्रत्युत्तर में शक्ति और अज्ञान के प्रत्युत्तर में ज्ञान दिया, वह भारतमाता !

हिमालय जिसका स्वर्णमुकुट है, हिन्द महासागर जिसके चरण पखारता है, हरितांचल जिसकी हरी साड़ी है, गंगा-यमुना-सिंधु की जलधाराएं जिसकी मुक्ता-मालाएं हैं, सूर्य और चन्द्र जिसकी आरती उतारते हैं तथा षड्ऋतु के सरगम पर प्रकृति स्वयं जिसकी वन्दना के गीत गाती है, वह भारतमाता !

जिसने भौतिकता को आत्मसात् करने वाली परिपूर्ण आध्यात्मिकता की गंगा को प्रवाहित करने वाले तत्त्वसाक्षात्कारी महापुरुषों की अखण्ड परम्परा प्रकट की, जिसकी गोदी में खेलने को देवता भी ललकते हैं, स्वयं भगवान् ने जिसको बार-बार 'जननी' कहा, वह भारतमाता !

जिसके पुत्रों ने परब्रह्म के दिव्य रूप को देखा और उसकी झलक दिखाकर विश्व को मुग्ध कर लिया, जिसने मानवों को 'अमृतस्य पुत्राः' की अनुभूति दी, जिसने विश्व की आध्यात्मिक प्रयोगशाला के रूप में सभ्यता के प्रारंभ से ही कार्य किया है, वह भारतमाता !

जो विश्व को आध्यात्मिकता के रंग में पूर्णतया रंगने के लिए सुदीर्घ काल से

सतत प्रयत्नशील है, पृथ्वी पर दिव्यजीवन की स्थापना ही जिसका जीवनोद्देश्य है, जिसकी दिव्य मालिका के रत्न ही एक-एक महापुरुष के रूप में विश्व को अपनी ज्योति से चमत्कृत करते रहे हैं, वह भारतमाता !

जिसका जयघोष 'वन्दे मातरम्' एक महान् मंत्र है, जिसकी उपासना अभ्युदय और निःश्रेयस् को साधने का वीरव्रत है, जिसकी साधना जीवन की सफलता है, जिसके ध्यान में स्वयं को भूलकर मग्न हो जाना ही देशभक्ति है, जिसकी कृपा सात्विकता की वर्षा है, जिसका स्पर्शमात्र जड़वाद के विरुद्ध कवच है, जिसका अस्तित्व विश्व की आशा है, जिसका इतिहास प्रकाश-अंधकार-प्रकाशमयी लीला का तालवद्ध संगीत है, जिसका निःश्वास वेद है, वह ज्योतिर्मयी भारतमाता !

और, वह भारतमाता जिसने वर्षो विदेश में रहने के कारण अंग्रेज़ी संस्कार प्राप्त अपने पुत्र 'अरविन्द' को, अपनी गोद में खींचते ही, वात्सल्यपूर्वक घनीभूत आध्यात्मिकता से दीप्त कर दिया जिससे वह पूर्व और पश्चिम का, अतीत और भविष्य का, तर्क और श्रद्धा का, धर्म और विज्ञान का, सिद्धान्त और व्यवहार का, चेतना और आनन्द का एक समन्वित रूप अपनी कृति से, साधना से, लेखनी से, वाणी से, सम्पूर्ण जीवन से प्रस्तुत कर सुप्त भारतीयों को जगा सके और प्रकाश की खोज में भटकते विश्व को सही दिशा बता सके, वह भारतमाता !

जो युग-युग में अरविन्दों को जन्म देती रही है, और युग-युग तक अरविन्दों को जन्म देती रहेगी, वह श्री अरविन्द की अर्चिता जननी भारतमाता !

उस भारतमाता की जय हो !

माता की जय हो !

वन्दे मातरम् !

२. परतंत्र भारत–काली रात्रि और उषा-काल

(क) काली रात्रि

"गंगा डूब गई थी, और निस्तेज पत्तियां वर्षा की प्रतीक्षा में थीं, जबकि काले मेघ दूर एकत्र हो रहे थे, हिमवन्त पर, अरण्य झुक गया था, मौन हो गया था और तब बिजली कड़क उठी।"

—श्री टी० एस० ईलियट कृत
'दि वेस्टलैण्ड' से

श्री अरविन्द का जन्म १८७२ ई० में हुआ था। तब भारतवर्ष परतन्त्र था, अंग्रेज़ों के अधीन था। उस समय के भारत की दुर्दशा विश्व-इतिहास की सबसे करुण घटना है।

इस्लामी शासन और संस्कृति से लगभग ८०० वर्षों तक जूझते रहने के पश्चात् जब भारतीय स्वातन्त्र्य-काल आ ही पहुंचा था, तभी यूरोपीय शक्तियों के जाल में भारत बन्दी बन गया। १४९८ में वास्को द गामा के भारत-आगमन के परिणामस्वरूप यूरोपीय व्यापारियों को भारत आने का मार्ग मिल गया। उनकी राजनीतिक पटुता तथा भारत की विघटनावस्था का परिणाम यह हुआ कि पुर्तगालियों, हालैण्डवासियों, फ्रांसीसियों तथा अंग्रेजों की पारस्परिक प्रतिद्वन्द्विता के लिए भारत एक निर्बाध क्षेत्र बन गया और अंततः अंग्रेज़ों की 'ईस्ट इण्डिया कम्पनी' अधिकांश भारत पर शासन करने लगी। देशी रजवाड़े अर्द्धस्वतन्त्र होते हुए भी उसके अधीन होते चले गए। वीरों, मनीषियों, धनियों, कलाकारों और साहित्यकारों की भारत में तब भी कमी नहीं थी परन्तु राष्ट्रीय भावना दुर्बल होने के कारण भारत पराधीन हो गया।

अंग्रेज़ी शासन में, भारतीय जीवन को एक विशेष प्रकार के परकीय समाज

से संघर्ष करना था। इस्लामी आक्रामकों से पहले के विदेशी विजेताओं का भारतीयकरण करने में भारत की राष्ट्रीय पाचनशक्ति ने बहुत पहले ही सफलता पा ली थी। भारत के प्रति अनुराग तथा यहां की उत्कृष्ट, सहिष्णु तथा प्राणवान् संस्कृति की क्षमता ने उन्हें अन्ततः विशाल हिन्दू समाज से अत्यन्त स्वाभाविक रूप में एकरूप कर लिया था। इस्लामी समाज की विभिन्न शाखाएं यद्यपि उस प्रकार हिन्दू समाज से एकरूप नहीं हो सकी थीं जैसा डा० कर्णसिंह ने लिखा है—"भारत में शीर्षस्थ इस्लामी शक्ति मुगल तो सम्पूर्णतः भारतीय बन गए थे और उनकी सांस्कृतिक कड़ी भी ईरान और पश्चिम एशिया के देशों से जुड़ी थी, फिर भी वे पूर्णतः भारतीय बन गए थे और अपने को कभी विदेशी नहीं समझते थे।"— तथापि इस्लामी समाज समन्वित भारतीय जीवन से एकरूप होने की तैयारी में था। किन्तु अंग्रेज़ों ने पूर्णतया विदेशी के रूप में स्वयं को बनाए रखने की नीति अपनाई जो तत्कालीन वैज्ञानिक यातायात-सुविधाओं के कारण संभव भी हो सकी। साथ ही अंग्रेज़ों ने भारतीय धर्म और संस्कृति पर सीधा प्रहार भी किया। उनका उद्देश्य भारत को पूर्णतया ईसाई बना लेना और 'आस्ट्रेलिया' तथा उत्तरी अमरीका के समान ही भारत को भी अंग्रेज़ियत के सांचे में ढाल देना था। उन्हें यह पता नहीं था कि भारत की अपनी संस्कृति अत्यन्त उच्च है तथा हिन्दू धर्म किसी ठोस आधार पर प्रतिष्ठित है। वे विजेता के उन्माद में चूर थे और मुस्लिम धर्मोन्मत्तों से भी अधिक भयंकर रूप में उन्होंने भारत पर आघात पर आघात किए। इन आघातों को भारत अपनी महती प्राणशक्ति के बल पर ही झेल सका, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अंग्रेज़ों ने भारत को राजनीतिक दृष्टि से अपने शासन के अन्तर्गत लाने के साथ-साथ आर्थिक क्षेत्र में भी अनेक विध्वंसात्मक कार्य किए जिनसे भारत पर बहुत बुरा प्रभाव पड़ा। देश भर में राजनीतिक अस्थिरता प्रायः समाप्त हो जाने तथा खण्ड-खण्ड भारत के स्थान पर प्राय. समग्र भारत में एक शासन रहने से जनसामान्य को कुछ नवीनता तथा सुविधा का मोहक अनुभव भी हुआ किन्तु अंग्रेज़ों की नीति शोषण तथा साम्राज्यवाद की है, यह स्पष्ट दिखाई देता था। अनेक प्रकार की अखिल भारतीय सेवाओं इंडियन सिविल सर्विस आदि— की स्थापना से अंग्रेज़ों ने,भारत को साम्राज्यवादी पाश में जकड़ दिया। भारत के शिल्प, उद्योग-धन्धे, व्यापार, वाणिज्य, ग्रामों की आत्मनिर्भरता, ग्रामीण पाठशालाओं, ग्राम की भूमि पर कृषक के अधिकार, कृषि की आत्मनिर्भरता आदि को इतनी निर्ममतापूर्वक तथा धूर्ततापूर्वक कुचल दिया गया कि विश्व में इसे आधुनिक युग की अद्वितीय घटना के रूप में देखा जा सकता है। ज़मींदारों का नया वर्ग उपजाया गया। ग्राम-पंचायतों के स्थान पर सरकारी कचहरियों व न्यायालयों को लाद दिया गया। ब्रिटिश कारखानों के लिए भारत के कच्चे माल को सुरक्षित

कर दिया गया और वहां का माल भारत के बाज़ारों पर थोप दिया गया। और इस व्यापारिक सुविधा के लिए भारत में रेलों व सड़कों का जाल बिछाया जाने लगा। किसान निर्धन होता गया, अंग्रेज़ों के दलाल ज़मींदारों और साहूकारों ने शोषण करके भारतीय अर्थव्यवस्था के आधार कृषक को रक्तहीन कर दिया। हस्तशिल्प, कला, कृषि और वस्तुतः सम्पूर्ण ग्राम-जीवन ही ध्वस्त हो गए। भारत के कोष से अंग्रेज़ अफ़सरों को दिए गए बड़े-बड़े वेतनों, सेनाओं द्वारा राजाओं, नवाबों आदि के कोषों की लूट इत्यादि के द्वारा भी इंग्लैंड को सुवर्ण, चांदी, हीरों व मोतियों से भर दिया गया। कम्पनी के द्वारा भारत का आर्थिक शोषण इतनी तेज़ी से हुआ कि भारत शीघ्र ही कंगाल हो गया और उसके धन से ब्रिटेन ही नहीं, यूरोप के अन्य देश भी धनी हो उठे। इंग्लैण्ड की औद्योगिक क्रान्ति भारत के शोषण का ही परिणाम थी।[1]

यही नहीं, भारत को ईसाई बनाने के प्रयत्नों में भी विदेशी चर्च ज़ोरों से जुट गए। विदेशी पादरियों से भारत भर गया। ज़ोर-ज़बर्दस्ती तथा लोभ-लालच के आसुरी मार्गों तथा पैशाचिक विधियों से सहस्रों हिंदू व्यक्तियों व परिवारों को ईसाई बनाने में भले ही सफलता पा ली गई किन्तु अन्ततः यह इतिहास संत ईसा के नाम पर सबसे काला धब्बा ही माना जाएगा।

अंग्रेज़ों ने बहुत सोच-विचारकर अंग्रेज़ी स्कूलों-कालिजों की स्थापना का जो निर्णय लिया उसका भी भारत पर गंभीर परिणाम हुआ। ईसाई शिक्षकों के द्वारा छात्रों के कोमल मन पर जो राष्ट्रद्रोही विचार डाले जाने लगे तथा जो 'बाबुओं' का नया वर्ग उपजाया जाने लगा उसका परिणाम 'काले साहबों' की निर्मिति में हुआ। अंग्रेज़ों का स्वप्न यही था कि ऐसे काले अंग्रेज़ों से भारत को व्याप्त करके उसे इंग्लैण्ड-जैसा ही बना दिया जाए।

कुछ अंग्रेज़ों की दृष्टि भारतीय पुरातत्त्व, वास्तुकला, संस्कृत-साहित्य आदि की ओर गई। भारतीय इतिहास को अपने उद्देश्यपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करने वाले अंग्रेज़ लेखकों ने पुरातत्त्व की सामग्री इत्यादि के भी मनमाने विश्लेषण किए। भारतीय संस्कृति, धर्म इत्यादि के गंभीर तत्त्वों से अनभिज्ञ इन विद्वानों ने जो कुछ लिखा उसमें विकृतियों का इतना बड़ा भंडार भर दिया गया कि उसमें से अमृत कम, विष ही अधिक प्रकट हुआ।

अंग्रेज़ों के द्वारा अपनाए गए मार्गों का एक सीधा परिणाम यह हुआ कि भारतीयों का एक ऐसा वर्ग तैयार होने लगा जो आत्मविस्मृत, अंग्रेज़-भक्त तथा भारतीय समाज से घृणा करने वाला था। अंग्रेज़ों को अत्यन्त परोपकारी, अंग्रेज़ी शासन

---

१. द्रष्टव्य—दादाभाई नौरोजी, रमेशचन्द्र दत्त, अरविन्द पोद्दार इत्यादि की तत्सम्बन्धी कृतियां तथा एफ० जे० शोर, मांटगोमरी मार्टिन आदि की स्वीकृतियां।

को वरदान तथा अंग्रेज़ी शिक्षा को प्रकाश का एकमात्र स्रोत समझा जाने लगा। यही नहीं, जो राजनीतिक चेतना स्वातंत्र्य-प्राप्ति के लिए सशस्त्र संघर्ष का माध्यम अपनाने में कभी हताश नहीं हुई थी, उससे भारतीय युवक-शक्ति की दूरी बढ़ने लगी। भारतीय जीवन-मूल्य इस समय उपेक्षित होने लगे थे और उनसे अपरिचित भारतीयों में पाश्चात्य जीवन-मूल्यों के प्रति जो ललक-भरी दृष्टि दिखाई दे रही थी, वह भारतीय समाज की मानसिक पराजय का ही लक्षण था।

१८५७ के भव्य भारतीय स्वतंत्रता-संग्राम ने अंग्रेज़-शक्ति को हिला तो दिया किन्तु सूत्रवद्ध अनुशासित राष्ट्रीय शक्ति के अभाव में तथा देशद्रोही शक्ति के कारण अन्ततः भारतीय हार गए और अंग्रेज़ों ने अपने विरुद्ध इस 'विद्रोह' को कुचल डाला। क्रांति असफल हो गई किन्तु उसके परिणामस्वरूप 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' के अयोग्य हाथों से शासन की वागडोर १८५८ में अंग्रेज़ों की महारानी के हाथों में चली गई और भारत की आत्मा 'धर्म' पर सीधे आघात की नीति अंग्रेज़ों ने त्याग दी।

किन्तु १८५७ का धक्का झेलने के वाद अंग्रेज़ी शासन और भी कुशलता से भारत की आत्मा पर विजय में प्रवृत्त हो गया। आर्थिक शोषण चलता रहा, भारतीय जीवन का ध्वंस चलता रहा और साथ ही वौद्धिक विजय के लिए अंग्रेज़ी शिक्षा तेज़ी से वढ़ा दी गई। १८५७ के युद्ध में हिन्दू और मुसलमानों ने मिलकर भाग लिया था किन्तु अव उनमें 'फूट डालो श्रौर राज्य करो' के सूत्र को अधिक गंभीरता से व्यवहार में लाने की विधियां सोची जाने लगीं। भारतीय असंतोष फिर कभी विद्रोह के रूप में न भड़के, इसके लिए अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे तथा धनी-मानी प्रभावी समाज के वीच में काम करने वाली एक 'सेफ्टीवाल्व' जैसी संस्था की स्थापना की योजना भी वनाई जाने लगी। आगे चलकर १८८५ में 'इण्डियन नेशनल कांग्रेस' की स्थापना इसी उद्देश्य से की गई थी। ब्रिटिश सरकार का इसमें पूरा हाथ था और संरक्षण भी। कालान्तर में लोकमान्य तिलक, विपिनचन्द्र पाल तथा श्री अरविन्द के क्रान्तिकारी नेतृत्व ने अंग्रेज़ों को धूल चटा दी और उनका षड्यन्त्र विफल करके कांग्रेस को भारतीय स्वातंत्र्य का सशक्त माध्यम वनाया। तथापि यह भी कटु सत्य है कि अंग्रेज़ व अंग्रेज़ियत के भक्तों की परम्परा भी उसमें सदैव ही चलती रही।

अस्तु, अंग्रेज़ों ने एक कुटिल चाल और चली। उन्होंने भारतीय समाज में व्याप्त दोषों को वढ़ा-चढ़ाकर दिखाना प्रारम्भ किया और अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों को यह प्रेरणा दी कि वे राजनीतिक स्वतन्त्रता के स्थान पर समाज-सुधार को अपना लक्ष्य वनाएं। पहले समाज-सुधार और फिर राजनीतिक सुधार का उल्टा पाठ पढ़ाने में वे वहुत कुछ सफल हुए और अनेकानेक देशभक्त अनजाने ही उनके जाल में फंस गए। कितने ही प्रतिभाशाली तथा देशभक्त महापुरुष, जो

राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की चेतना जगाने में असीमित कार्य कर सकते थे, 'ब्रह्म सभा', 'ब्रह्म समाज', 'आदि ब्रह्म समाज', 'प्रार्थना समाज' आदि के माध्यम से सुधारात्मक भूमिका ही प्रस्तुत करते रहे। इस सुधारवाद के अनेक दुष्परिणाम भी सामने आए।

राजा राममोहन राय (१७८२-१८३५), ईश्वरचन्द्र विद्यासागर (१८२०-१८९१), देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८१७-१९०५), केशवचन्द्र सेन (१८३८-१८८४), महादेव गोविंद रानडे (१८४२-१९०१), दादाभाई नौरोजी (१८२४-१९१७) इत्यादि अनेक व्यक्ति समाज-सुधारक के रूप में सामने आए। ये सभी नेता प्रतिभा-सम्पन्न थे और महान् भी, परन्तु उन पर विदेशी कार्यपद्धतियों का, और एक अंश तक अंग्रेजी संस्कृति का गहरा प्रभाव था। उन्हें भारतीय संस्कृति का अंशमात्र ही स्वीकार्य था, और वह भी कुछ विशेष व्यवस्थाओं के साथ। वे छोटे-मोटे सामाजिक व आर्थिक रोगों के विशेषज्ञ तो थे परन्तु मूल परतंत्रता-रोग की उनके पास कोई औषधि ही न थी। मानवतावाद, अच्छी न्याय-व्यवस्था, सरकारी नौकरियों में भारतीयों की अनुपात-वृद्धि, समाज-सुधार इत्यादि के लिए तो वे प्रयत्नशील थे, परन्तु भारत की स्वतंत्रता की कल्पना भी या तो उन्हें थी ही नहीं, या उसे अभिव्यक्त करने में भी उन्हें भय लगता था और इस कारण अनजाने ही वे अंग्रेज़ों की नींव को भारत में पक्का कर रहे थे।

राजा राममोहन राय तथा अन्य सुधारकों द्वारा भारतीय पद्धतियों पर किए गए प्रहारों का यह दुष्परिणाम हुआ कि भारतीय आस्थाएं विखरने लगीं और इस बात ने अंग्रेज़ी शासन, ईसाई पादरियों तथा अराष्ट्रीयता को बल प्रदान किया। विदेशी शासन के सांस्कृतिक प्रभाव, सामाजिक अधःपतन, आर्थिक दुरवस्था आदि से भारत की प्राणरक्षा के लिए भारत की स्वाधीनता प्रथम आवश्यकता थी, इस तथ्य को भुला देने से भारतीय सुधार-आन्दोलन राष्ट्र-शक्ति को विभक्त व दुर्बल करने वाला बना। हिन्दू धर्म व समाज की निर्मम आलोचना करने के कारण 'ब्राह्म समाज' आदि संस्थाएं राष्ट्रीयता की जड़ पर प्रहार करने वाली ही सिद्ध हुईं। उनसे बल पाकर अंग्रेज़ी विद्यालयों के विद्यार्थी प्रत्येक हिन्दू दृष्टिकोण के प्रति विद्रोही हो उठे। यौवन के उन्माद में, डटकर शराब पीने, जी भर कर गोमांस खाने, मुस्लिम होटल की रोटी खाने आदि का जोरों से प्रदर्शन करने वाले विद्यार्थी अन्ततः ईसाई बन गए, इसके सहस्रों उदाहरण सामने आने लगे। एक बार परम्परा के अनादर को 'प्रगतिशीलता' कहने भर की देर थी, फिर तो सहस्रों युवकों में से धर्म के साथ ही नैतिकता भी विदा हो गई और अनैतिकता, व्यभिचार, शराबखोरी इत्यादि का ऐसा नंगा नाच प्रारंभ हुआ जिसकी राजा राममोहन राय आदि ने कल्पना भी नहीं की थी।

इन बंगाली विकृतियों का प्रभाव देश-भर में दिखाई पड़ने लगा। समाज-

सुधार के लिए लिखते या भाषण करते समय ईसाइयत व यूरोप की श्रेष्ठता वताने वाले नेताओं के प्रभाव के फलस्वरूप ईसाइयत व यूरोप की श्रेष्ठता भारतीय मस्तिष्कों में अधिक छा गयी।

उस समय भारत राष्ट्र की राष्ट्रीयता के स्वरूप के विषय में भी भारी विभ्रम फैलाया गया और 'हिन्दुस्थान' के हिन्दू-स्वरूप को धूमिल करने का घोर प्रयत्न अंग्रेज़ों व उनके नकलचियों ने किया। परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्रीयता के सच्चे स्वरूप पर कुहासा छाने लगा और यूरोपीय देशों के अनुकरण पर नए भारत राष्ट्र के निर्माण का स्वप्न दिखाया जाने लगा। उनअंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों की राजनीतिक कल्पनाओं पर सामान्यतया यूरोपीय तथा विशेषत: अंग्रेज़ी छाप थी। दादा भाई नौरोजी, महादेव गोविन्द रानडे, फीरोजशाह मेहता, वदरुद्दीन तैयवजी, सुरेन्द्रनाथ वनर्जी आदि भारतीयों में तत्कालीन अंग्रेज़ों से भिन्न राजनीतिक कल्पनाएं नहीं थीं। पश्चिमी देशों के इतिहास से राजनीतिक विचारों को, उनका आवश्यक परिष्कार किए विना, ग्रहण करने के कारण इन देश-हितैषियों ने स्वदेश को अनजाने ही हानि पहुंचाई।

उस समय भारतीयता या हिन्दुत्व नाम की किसी गतिशील जीवित सत्ता में लोगों का विश्वास ही समाप्त होता जा रहा था। सर्वत्र निराशा छायी थी। परानुकरण व आत्मनिन्दा का वातावरण व्याप्त था। कोई दिशा न थी, दिग्भ्रम था। आस्तिकताहीन भारत का एक वड़ा वर्ग धर्म में श्रद्धा तो रखता था परन्तु उसके तत्त्व को न जानने के कारण 'उधार धर्म' को अपनाए हुए था और 'नक़द धर्म' को छोड़ वैठा था। छुआछूत के कारण अपने ही पराए वनते जा रहे थे फिर भी छुआछूत को 'धर्म' माना जा रहा था। तव सर्वत्र दिखाई देने वाले वाल-विवाह, दहेज प्रथा के राक्षसी रूप, विधवाओं की दुर्दशा, तीर्थों व मंदिरों में पाखंड इत्यादि के दृश्यों से अपने समाज के प्रति घृणा हो जाना स्वाभाविक-सा हो गया था। उस समय भारतीय मन निराश था, हताश था, उदास था, किंकर्तव्यविमूढ़ था।

(ख) उषा-काल

> "मैं भविष्यद्रष्टा नहीं हूं; न मैं उसके लिए चिन्तित ही हूं। किन्तु एक दृश्य मेरे सामने विलकुल स्पष्ट है कि हमारी प्राचीन मातृभूमि एक वार जग उठी है। वह नवयौवन प्राप्त कर पहले से कहीं अधिक भव्य दीप्ति के साथ अपने सिंहासन पर वैठी है। समस्त संसार को शांतिपूर्ण और मंगलमय वाणी से उसका सन्देश सुनाओ।"
>
> —स्वामी विवेकानन्द

उस निराशामय वातावरण को चीरकरतीन महापुरुष भारत के मंच परचमक उठे। उन्होंने भारत-चेतना को झकझोर कर जगा दिया। भारत को यथार्थ ज्ञान कराने वाले वे थे—स्वामी दयानंद सरस्वती (१८२४-८३), स्वामी रामकृष्ण परमहंस(१८३६-८६)तथा स्वामी विवेकानन्द (१८६३-१९०२)। उनके स्वरूप को समझना भारत की आत्मा का साक्षात्कार करना है।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

स्वामी दयानन्द सरस्वती ने १८५४ से १८६० तक देशाटन, योगाभ्यास, वेदाध्ययन आदि के द्वारा अपने राष्ट्र की आत्मा का साक्षात्कार किया। वे अद्भुत ब्रह्मचारी थे, वैदिक संस्कृति के मूर्त्त रूप भी। वे भारत की असाधारण विभूति सिद्ध हुए क्योंकि उन्होंने राष्ट्र का ध्यान अपने शुद्ध रूप की ओर आकृष्ट किया। उन्होंने वेद को राष्ट्र-जागृति का आधार बनाया और शत्रुओं से हिन्दू जाति की रक्षा की। एक प्रवल चौकी के रूप में 'आर्य समाज' की स्थापना (१० अप्रैल, १८७५) भी की।

आर्य समाज का कार्य उत्तर प्रदेश, पंजाव, राजस्थान व गुजरात में प्रभावी सिद्ध हुआ, विशेषत: पंजाव में। यह कार्य राष्ट्रीयता की भावना को जगाने वाला सिद्ध हुआ। भारतीय समाज में उसने एक अद्भुत चेतना फूंक दी। हिन्दू जाति में नवीन शक्ति का संचार हुआ। मुस्लिम तथा ईसाई षड्यन्त्रों का शिकार वना हुआ तथा रूढ़ियों में फंसा हिन्दू समाज कुछ जीवन और तेज से युक्त दिखाई देने लगा। स्वामी दयानन्द ने स्वराज्य, स्वभाषा, स्वधर्म, स्वसंस्कृति आदि की दृष्टि से देश को स्वस्थ दिशा दी। सोते हुए समाज को झकझोर कर जगा देने वाले स्वामी दयानन्द सरस्वती के तेजस्वी व्यक्तित्व ने भारतीय जीवन-मूल्यों के सही स्वरूप को तो उजागर किया ही, पाश्चात्य जीवन-मूल्यों की तुलना में उनकी श्रेष्ठता भी सिद्ध की। इसके लिए उनके व्यक्तित्व व कृतित्व अत्यन्त प्रभावी रहे। हिन्दुत्व का पददलित व तेजहीन स्वरूप नष्ट होने लगा और मानसिक दासता के विरुद्ध प्रभावी संस्कार मिलने लगे। हिन्दू समाज के दोषों को उन्होंने वड़ी पैनी दृष्टि से देखा किन्तु उसके लिए किसी विदेशी दृष्टि के आधार को स्वीकार करने के स्थान पर भारत की अपनी प्रकृति के आधार पर सुधार का वैदिक मार्ग उन्होंने प्रशस्त किया। जाति-भेद, छुआ-छूत, अशिक्षा, नारी-दुर्दशा, वाल-विवाह आदि पर उनके तीखे वौद्धिक प्रहारों का इष्ट परिणाम हुआ और उनकी सहृदयता, आत्मीयता व लगन ने सहस्रों समाज-सेवी उत्पन्न किए।

स्वामी दयानन्द ने भारत की आत्मा 'धर्म' को पहचान कर राष्ट्रीय पुनर्जागरण के लिए धर्म को ही आधार वनाया और उसके शुद्ध वैदिक स्वरूप को युग की भाषा में प्रस्तुत किया। उन्होंने स्पष्ट कहा था—"जो पक्षपात-रहित है, जो न्याय

तथा समता की शिक्षा देता है, जो मन, वचन तथा कर्म की सत्यता सिखाता है और संक्षेप में, जो वेदों में निहित ईश्वर की इच्छा के अनुकूल है, उसी को मैं धर्म कहता हूं।" उन्होंने समस्त विश्व को आर्य बनाने के ऋषि-संकल्प की पुन. घोषणा की और स्वराज्य, स्वतन्त्रता, आत्मनिर्भरता, शक्ति-उपासना आदि का उत्कृष्ट सन्देश दिया। उनका प्राचीन भारत का गौरवगान भावात्मक उड़ान नहीं, बौद्धिक निष्कर्ष था जिसने देश के अनेक पश्चिम-भक्तों को वैसे ही प्रभावित किया, जैसे विदेशी मैक्समूलर आदि को। भारत राष्ट्र का विराष्ट्रीयकरण करने वाले तत्त्वों के प्रति उन्होंने राष्ट्र को जागरूक किया और प्रार्थना समाज व ब्रह्म समाज की आत्मगौरव हीनता पर सीधा प्रहार किया। उनके शब्दों में—"यद्यपि इन लोगों का जन्म आर्यावर्त में हुआ है, इन्होंने इसी का अन्न खाया है और आज भी खा रहे हैं, फिर भी इन्होंने अपने पूर्वजों के धर्म का परित्याग कर दिया है। और उसके स्थान पर विदेशी धर्मों की ओर अधिक उन्मुख हैं। ये अपने को विद्वान् मानते हैं किन्तु देशी संस्कृत-विद्या के ज्ञान से सर्वथा शून्य हैं। अपने अंग्रेज़ी के ज्ञान के घमण्ड में वे एक नया धर्म स्थापित करने में जल्दबाज़ी कर बैठे हैं।"

स्वामी दयानन्द का १८८३ में देहान्त हो जाने के पश्चात् भी आर्य समाज बढ़ता ही गया। हिमालय सदृश व्यक्तित्व वाले श्रद्धानन्द उसी की देन थे। यद्यपि आर्य समाज एक गैर-राजनैतिक सांस्कृतिक-धार्मिक संस्था ही रहा तथापि उससे प्रेरित लाखों लोगों ने राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए अपनी आहुति दी। इस प्रेरणा का मूल कारण था प्राचीन भारत का गौरवगान जिसके सम्बन्ध में स्वामी श्रद्धा-नन्द ने ठीक ही लिखा था—

"इसलिए जब आर्य समाज प्राचीन भारत का गौरवगान करता है तो उसमें राष्ट्रवाद का पोषण करने वाले तत्त्वों को उत्तेजना मिलती है और उस तरुण राष्ट्रवादी की सुपुप्त राष्ट्रीय अस्मिता जाग उठती है तथा आकांक्षाएं प्रज्ज्वलित हो उठती हैं जिसके कानों में निरन्तर यह शोकपूर्ण मंत्र फूंका गया था कि भारत का इतिहास सतत अपमान, अधःपतन, विदेशियों की पराधीनता तथा बाह्य शोषण की शोचनीय गाथा है। और हम क्यों करते हैं भारत की गौरवगाथा का गान? इसलिए कि भारत ईश्वर-प्रदत्त ज्ञान के व्याख्याताओं का देश है, वह पवित्र भूमि है जहां वैदिक संस्थाएं समुन्नत हुईं और अपने सर्वोत्तम फल प्रस्तुत किए, वह धर्म-क्षेत्र है जहां वैदिक दर्शन और तत्त्वज्ञान विकास के चरम उत्कर्ष को प्राप्त हुए और वह पवित्र वसुन्धरा है जहां ऐसे आदर्शपुरुष निवास करते थे जिन्होंने स्वयं अपने आचरण में वेदों की उच्चतम धारणाओं का साक्षात्कार किया। अतः देश-भक्ति जो वेदभक्ति की दासी है, एक उच्च प्रेरणादायक, शक्तिदायिनी, एकीकरण करने वाली, शान्तिदायक, सन्तोषप्रद तथा स्फूर्तिदायक वस्तु है।"

निस्सन्देह महान् राष्ट्रभक्त एवं प्रचण्ड योद्धा स्वामी दयानन्द ने भारतीय

राष्ट्रवाद को ब्रिटिश काल में प्रथम बार प्रस्तुत किया। उन्होंने स्वाधीनता की भावात्मक तथा बौद्धिक कल्पना भी दी। भारत की स्वतन्त्रता का उद्देश्य मानव कल्याणार्थ विश्व के संदेश में दीक्षित करना होगा, यह भी उन्होंने स्पष्ट कर दिया। उन्होंने एक महान् विशाल व सत्य दृष्टि प्रदान की। "भारत की एक महान् निर्माणकारी आत्मा के रूप में" भारतीय समाज उनके जीवन से सदैव प्रेरणा पाता रहेगा।

स्वामी रामकृष्ण परमहंस

जिस समय स्वामी दयानन्द अपने ज्ञान और शास्त्रार्थ के बल पर भारतवर्ष को जगा रहे थे, उसी समय बंगाल में स्वामी रामकृष्ण परमहंस परमतत्त्व की प्रत्यक्ष अनुभूति के बल पर जागृति-केन्द्र बना रहे थे। सनातन धर्म की घोषणा है कि सभी मार्ग परमात्मा की ओर ले जाने वाले हैं और श्री रामकृष्ण ने इसकी सत्यता की स्वयं परीक्षा भी कर ली थी। उन्होंने द्वैत, विशिष्टाद्वैत, अद्वैत इत्यादि दार्शनिक मतों का ही नहीं, इस्लाम और ईसाई पंथों का भी जो अद्भुत समन्वय प्रस्तुत किया था उससे उनका विरोध तो कोई कर ही नहीं सकता था। वे निर्धन थे और अशिक्षित भी, परन्तु उनकी आध्यात्मिक शक्ति ने शीघ्र ही सम्पूर्ण बंगाल को प्रभावित किया और देवेन्द्रनाथ ठाकुर, केशवचन्द्र सेन, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर सदृश महापुरुषों ने उनकी दिव्यता स्वीकार कर ली थी। वे आध्यात्मिक क्रान्ति का सूत्रपात करने के लिए जन्मे महापुरुष हैं, यह स्पष्ट हो गया था क्योंकि उनका जीवन हिन्दू धर्म के सभी शास्त्रों की सत्यता का खुला प्रमाण था। वे काली माता के प्रति अनन्य भक्ति रखते थे और उनके व्यवहार से यह सिद्ध था कि वे पराशक्ति से निरन्तर सम्पर्क में हैं। उनके दर्शन व सत्संगति से प्रभावित बंगाली युवकों में पाश्चात्य सभ्यता के मोह का अंधकार नष्ट होने लगा और अपने धर्म-संस्कृति के प्रति श्रद्धा पुनः जाग उठी। श्री रामकृष्ण परमहंस ऐसे व्यक्ति थे जो परमात्मा को न केवल देखने की ही क्षमता रखते थे अपितु दिखाने की भी, जो न केवल चमत्कार कर सकते थे अपितु उनकी तुच्छता भी दिखा सकते थे और उनमें प्रेम, भक्ति, ज्ञान, योग इत्यादि की धाराएं समन्वय पा गयी थीं। स्वामी परमहंस ने तर्क पर श्रद्धा की, बुद्धि पर भाव की, निराशा पर आशा की, पश्चिम पर भारत की, प्रकृति पर संस्कृति की और अकर्मण्यता पर कर्मठता की विजय-पताका फहरा दी थी।

दक्षिणेश्वर में श्री रामकृष्ण की काली-पूजा वस्तुतः एक सच्चे भारतीय द्वारा शुद्ध हृदय से माता की पूजा थी, उस माता की जो विश्व की संचालिका पराशक्ति है, जो तेजों का तेज और ज्ञानों का ज्ञान है। पराशक्ति की कृपा से स्वामी रामकृष्ण परमहंस में जो परम ज्ञान प्रकट हुआ था, उसके चरणों पर पश्चिमी शिक्षा का अभिमान न्योछावर हो गया था। हिन्दू राष्ट्र की प्रतिभा का, संस्कृति का,

धर्म का, राष्ट्रीयता का मौलिक जागरण था।

स्वामी विवेकानन्द

स्वामी रामकृष्ण परमहंस ने अपने शिष्यों में सबसे अधिक प्रतिभाशाली श्री नरेन्द्रनाथ दत्त को अपना उत्तराधिकारी बनाया और उन्हें संन्यास में दीक्षित कर 'विवेकानन्द' नाम दिया। विवेक और आनन्द की मूर्ति 'विवेकानन्द' ने अपने गुरुदेव के चरणों में अपने सांसारिक जीवन के स्वप्न समर्पित कर दिए और सन् १८८६ में रामकृष्ण देव के दिवंगत हो जाने पर उनके आदर्शों और सन्देशों के आधार पर भारत और विश्व को जागृत करने के लिए गुरुभाइयों का एक संघ निर्मित किया। अपने अत्यंत सीमित साधनों के होते हुए भी परिव्राजक विवेकानन्द सन् १८९३ में शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में जा पहुंचे। उनका वहां जाना भारत राष्ट्र के लिए वरदान सिद्ध हुआ। वहां उन्होंने हिन्दू धर्म का जो सन्देश दिया, वह अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। तब पश्चिम की हिन्दू धर्म के प्रति जो तुच्छ भावना थी, उसको हटाकर वेदांत के तत्त्वज्ञान को तेजस्वी शैली में प्रस्तुत कर, उन्होंने विश्व की आंखें खोल दीं। भारत के 'जगदगुरुत्व' के सम्मुख एक बार फिर विश्व ने मस्तक झुका दिया।

पराधीन भारत, निराश भारत, उदासीन भारत के लिए यह एक अद्भुत घटना थी। भारतवर्ष के जन-जन में अपनी आध्यात्मिक परम्परा व महान् धर्म-संस्कृति के प्रति जो सुप्त गौरव जाग उठा, उसका परिणाम यह हुआ कि बंगाल में ही नहीं वरन् सम्पूर्ण राष्ट्र में जागृति की एक प्रभावी लहर आ गयी। १८९७ में भारत लौटने पर अलमोड़ा से कोलम्बो तक २५०० मील लम्बे और २५०० मील चौड़े विशाल देश में स्वामी विवेकानन्द के सैकड़ों भाषणों ने जन-जन को एक अद्भुत सन्देश दिया। यह शक्ति, निर्भयता, आत्मविश्वास, आत्मसाक्षात्कार, जागृति, समाज-सेवा, समता, त्याग, प्राचीन भारतीय धर्म, संस्कृति-परम्परा-इतिहास-साहित्य के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा तथा कर्मशीलता का संदेश था। वे प्रेम, ज्ञान, योग, भक्ति, कर्म से समन्वित भारत तैयार कर रहे थे। वे ब्रह्मतेज और क्षात्रतेज दोनों से समृद्ध भारत गढ़ रहे थे। उन्होंने स्पष्ट कहा था कि भारत राष्ट्र का प्रधान तत्त्व धर्म है। अतः वे धर्म-चेतना को जगा रहे थे। वे भारत के प्रति जो अद्भुत प्रेम भरी वाणी बोल रहे थे, वह राष्ट्रीयता का ही मंत्र था—"हे वीर ! निर्भीक बनो, साहसी बनो ! इस पर गर्व करो कि तुम भारतीय हो और गर्व के साथ घोषणा करके कि—मैं भारतीय हूं और प्रत्येक भारतीय मेरा भाई है। बोलो—ज्ञानहीन भारतीय, दरिद्र तथा अकिंचन भारतीय, ब्राह्मण भारतीय, अछूत भारतीय मेरा भाई है। तुम भी अपनी कमर में लंगोट बांधकर गर्व के साथ उच्च स्वर में घोषणा करो—भारतीय मेरा भाई है, भारतीय मेरा जीवन है, भारत

के देवी-देवता मेरे ईश्वर हैं, भारतीय समाज मेरे बाल्यकाल का पालना है, मेरे यौवन का आनन्द-उद्यान है, पवित्र स्वर्ग है और मेरी वृद्ध अवस्था की वाराणसी है। मेरे बन्धु, बोलो—भारत की भूमि मेरा परमस्वर्ग है, भारत का कल्याण मेरा कल्याण है। दिन-रात जपो और प्रार्थना करो – हे गौरीशंकर, हे जगज्जननी मुझे पुरुषत्व प्रदान करो। हे शक्ति मां ! मेरी दुर्बलता दूर करो। मेरी पौरुषहीनता हर लो और मुझे मनुष्य बना दो।'

विश्व का चित्र

सचमुच में वह जागरण का युग था। उस समय तक इटली में मैज़िनी ने सशक्त राष्ट्र खड़ा कर लिया था। अमरीका अंग्रेज़ों के चंगुल से मुक्त होकर स्वतंत्रता के गीत गा रहा था। फ्रांस की राज्य क्रांति विश्व के समक्ष अद्भुत तीव्रता के साथ समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व के आदर्शों को चमका गयी थी। पूंजीवाद व आर्थिक प्रगतिवाद के परिणाम सामने आ रहे थे। आर्थिक विषमता के विरुद्ध मार्क्सवाद का स्वर उठ रहा था। इन सब का प्रभाव भारतीय शिक्षित मन पर भी पड़ रहा था। साथ ही ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तथा केशवचन्द्र सेन सदृश सुधारकों, समाचारपत्रों, बंकिमचन्द्र कृत 'आनंदमठ' आदि कृतियों इत्यादि के सम्मिलित प्रयत्नों से ब्रिटिश प्रभाव से बुरी तरह ग्रस्त बंगाल जागरण-काल का विशेष अनुभव कर रहा था। यद्यपि अभी भी राजनीतिक दृष्टि से भारतकोस्वतंत्र बनाने वाली कोई स्पष्ट शक्ति दिखाई नहीं दे रही थी परन्तु आध्यात्मिक जागरण के परिणाम-स्वरूप भारत की राजनीतिक चेतना भी जागृत होने को है, यह कोई भी दूरदर्शी व्यक्ति देख सकता था। उसी राष्ट्रीय जागरण-वेला में श्री अरविन्द का जन्म हुआ था।

३. कमल और सरोवर

(क) कमल खिल उठा

"मानो एक दीप जल उठा, मानो एक पवित्र मूर्ति गढ़ी गई।
एक मध्यस्थ किरण ने पृथ्वी को स्पर्श किया है
मानव-मन और प्रभु के मन के बीच की खाई पर सेतुबंध करते हुए,
स्वर्ग को मानव-आकार देते हुए,
उसकी दीप्ति ने हमारी नश्वरता को अज्ञात ब्रह्म से जोड़ दिया।"

—सावित्री महाकाव्य (४/१)

जागरण के उस उषा-काल में एक कमल खिल उठा जिसके पराग और मकरन्द सम्पूर्ण भारत को ही नहीं विश्व को मुग्ध करने वाले सिद्ध हुए। वह कमल अर्थात् अरविन्द—'श्री अरविन्द'।

श्री अरविन्द का जन्म १५ अगस्त, १८७२ ईस्वी (श्रावण शुक्ला एकादशी संवत् १९२९ विक्रमी) को कलकत्ता में अपने पिता के मित्र वैरिस्टर मनमोहन घोष के घर में हुआ था।[1] ज्योतिषीय दृष्टि से जन्म-समय के अन्य विवरण इस प्रकार हैं :

जन्मस्थान — कलकत्ता (२२° ३०' उत्तर, ८८° २०' पूर्व)
समय — सूर्योदय से एक घड़ी पूर्व, स्थानीय समयानुसार ५-१७ प्रातः
लग्न — कर्क २६° ४२'
राशि — धनु
ग्रहस्थिति — सूर्य - सिंह १° ४७

---

१. श्री पुराणी ने बड़ी छानबीन से निर्णय किया कि यह मकान थियेटर रोड पर न होकर 'लोअर सर्क्युलर रोड' पर था और बाद में उसे श्री नलिनी रंजन सरकार ने खरीद लिया था और गिराकर 'रंजनी' नाम दे दिया था। वैरिस्टर महोदय की सबसे छोटी पुत्री श्रीमती बाण बिहारीदास के अनुसार यह मकान २३७, लोअर सर्क्युलर रोड पर था जिसे श्री नलिनी रंजन सरकार ने खरीद कर गिरा दिया ताकि नए मकान (रंजनी) का निर्माण हो और वह इस काल में चीनी कौंसल जनरल का स्थान हो गया।

चन्द्र - धनु ७° ११
मंगल - कर्क ६° ५०
बुध - सिंह २४° ५७
वृहस्पति - कर्क २३° २
शुक्र - सिंह ६° ५६
शनि - धनु २५° २
राहू - वृष १८° ४
केतू - वृश्चिक १८° ४'

जन्म के समय केतु की महादशा भोग्य ३ वर्ष २ मास २२ दिन और उनकी राशि कुण्डली व नवांश कुण्डली तदनुसार इस प्रकार थीं—

ज्योतिषियों ने उनके विषय में समय-समय पर जो भविष्यवाणियां की थीं उनमें से अनेक सत्य सिद्ध हुईं। श्री बी० बी० रमन आदि ज्योतिषियों ने उनकी जन्मकुण्डली आदि के अध्ययन के परिणामस्वरूप अनेक निष्कर्ष उनके उत्तरजीवन में प्रस्तुत किए और सभी में श्री अरविन्द की असाधारण प्रतिभा, दिव्य तीव्र बुद्धि, त्यागमयी वृत्ति तथा आध्यात्मिक जीवन की ज्योतिषीय प्रमाणों से पुष्टि ही होती है।

(ख) सरोवर—एक परिचय

"डॉ० घोष में यह विशेषता थी कि रंग-ढंग से साहव वन जाने पर भी उनका हृदय कविवर माइकेल मधुसूदनदत्त की भांति वंगाली था। उनके प्राण दुःखियों का दुःख देखकर रो उठते थे। दीनों की सहायता करना उनका नित्य का साधारण काम था। उनकी उदारता और स्वार्थत्याग के गीत आज भी पूर्व वंगाल के रंगपुर, खुलना और जशोर आदि जिलों में बड़ी कृतज्ञता के साथ गाये जाते हैं।"

—श्री झावरमल्ल कृत 'श्री अरबिन्द चरित'

"इस सांस्कृतिक संकट-वेला में जव केशवचन्द्र सेन और उनके अनुयायी जो प्रगतिशील व्राह्मसमाजी थे, यूरोपीय नैतिकशास्त्र और

धर्मविज्ञान की ओर अधिक झुकाव के कारण राष्ट्र में अराष्ट्रीयता-कारक सिद्ध हो सकते थे, पाश्चात्य शिक्षा की ही एक उपज राज-नारायण वसु ने पांसा पलट दिया।"

—श्री आर० सी० मजुमदार कृत
'हिस्ट्री आफ़ दी फ्रीडम मूवमेंट
इन इण्डिया (भाग १)

श्री अरविन्द के जीवन-विकास को समझने के लिए उनके पिता डा० कृष्ण-धन घोप तथा माता स्वर्णलता, भाइयों व उनके कुछ संबंधियों का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है।

डा० कृष्णधन का जन्म १८४६ में हुगली जिले के कलकत्ता से ११ मील दूर 'कोन्नगर' ग्राम के एक सम्मानित परिवार में हुआ था। वे कायस्थ थे और घोप वंश के थे और उनकी पारिवारिक मान्यता यह मिलती है कि सभी घोप मूलतः अफगान सीमावर्ती पंजाब के हैं।

डा० कृष्णधन घोप कलकत्ते से ग्यारह मील दूर के ग्रामीण वातावरण में जन्मे अवश्य थे किन्तु वे अपनी शिक्षा-दीक्षा से वंगाली की अपेक्षा अंग्रेज अधिक थे। उन्होंने भारत में डाक्टरी शिक्षा पूरी करके २० वर्ष की अवस्था में ब्रिटेन की यात्रा की। दो वर्ष में स्काटलैण्ड से एम० डी० की उपाधि लेकर वे स्वदेश वापस लौटे। उन्होंने सिविल मेडिकल सर्विस के अन्तर्गत 'सिविल सर्जन' के रूप में विशेष ख्याति प्राप्त की। वे भागलपुर, रंगपुर व खुलना में रहे। औरंगपुर में उनके नाम से प्रसिद्ध हुई 'के० डी० केनाल' व खुलना में उनके नाम का विद्यालय व टाउन-हाल में उनके चित्र को रखे जाने की घटनाएं उनकी सामाजिक गतिविधियों तथा लोकप्रियता का परिचय उनके देहावसान के बाद भी वर्षों तक देती रहीं।

डा० कृष्णधन घोप का विवाह १८६४ में हो गया था। अपनी योग्य संतानों—क्रमशः विनयभूपण, मनमोहन, अरविन्द, सरोजिनी तथा वारीन्द्रकुमार—से युक्त परिवार के होते हुए भी उन्हें सुखी नहीं कहा जा सकता था क्योंकि श्रीमती स्वर्ण-लता देवी अस्वस्थ रहती थीं और यह अस्वस्थता भी भीषण हिस्टीरिया के दौरों के कारण थी। डा० घोप के एक भाई भी थे—श्री वामाचरण घोप, जो भागलपुर में 'हेडक्लर्क' के पद पर कार्य करते थे। किन्तु भाइयों में संवंध अच्छे नहीं थे।

डा० कृष्णधन घोप का जीवन सराहनीय था। वे विद्वान् थे और कर्मठ भी। भारतीय सामाजिक जीवन को उन्नत करने के लिए विद्यालयों, चिकित्सालयों, नगरपालिकाओं आदि की स्थापना में वे सदैव सक्रिय देखे गये। श्री पुराणी के शब्दों में—"कहा जाता है कि उन्होंने खुलना नगर का पूरा चेहरा ही वदल दिया था। वे सदैव ही निर्धनों के प्रति कृपालु रहते थे और अत्यधिक उदार थे—इतने अधिक उदार थे कि अपने वेतन में से कभी कुछ नहीं वचा पाये। जीवन के उत्त-

रार्द्ध में वे अपने जीवन की कटुता व शोकान्तता को भूलने के लिए अधिक मात्रा में शराब पीने लगे थे।"

सुदृढ़ व्यक्तित्व वाले डा० कृष्णधन घोषअंग्रेज़ व अंग्रेज़ियत के बड़े भक्त थे। वे सम्पूर्ण भारत को उस रंग में रंगना अच्छा ही नहीं आवश्यक भी मानते थे। इसी कारण उन्होंने इस बात की पूरी व्यवस्था की थी कि उनके बालकों पर बंगाली—वस्तुतः भारतीय—संस्कार बिलकुल न पड़ें। बालकों की शुद्ध योरोपीय शिक्षा-दीक्षा की योजना बनाने के साथ ही उन्होंने यह भी चिन्ता की थी कि घर में केवल अंग्रेज़ी बोली जाए। डा० कृष्णधन घोष सज्जन व परोपकारी थे परन्तु धार्मिक नहीं। श्री अरविन्द ने एक बार कहा था—"प्रायः किसी भी महान् पुरुष के पूर्वजों को अत्यधिक धर्मात्मा, पवित्रात्मा कह दिया जाता है किन्तु मेरे विषय में यह बात बिलकुल सत्य नहीं है। मेरे पिता घोर नास्तिक थे।" परन्तु वे एक सुदृढ़ निश्चय वाले कर्मठ व्यक्ति थे। शिक्षा लेकर भारत वापस आने पर समुद्र-यात्रा करने के कारण प्रायश्चित करने की ग्रामवासियों की मांग को उन्होंने ठुकरा दिया था और सामाजिक बहिष्कार की धमकियों की किंचित् भी चिंता न करते हुए अपनी ग्रामीण सम्पत्ति को बेचकर शहर में बस गए थे। किंतु इसका यह अर्थ नहीं कि उनमें राष्ट्रीयता कहीं थी ही नहीं। संस्कृत भाषा के वे विशेष अनुरागी थे और आगे चलकर श्री अरविन्द को देशभक्ति की दिशा में प्रेरणा भी अनजाने ही उनके पत्रों ने भी दी थी।

श्रीमती स्वर्णलता देवी ब्रह्मसमाज के एक प्रमुख समर्थक श्री राजनारायण वसु की पुत्री थीं जो कि 'हिन्दू मेला' के प्रवर्तक के रूप में भी प्रसिद्ध हैं। विवाह के समय स्वर्णलता देवी की अवस्था १२ वर्ष की थी। बाद में वे मानसिक रोगी हो गयी थीं और इस कारण बच्चों के प्रति अत्यन्त ही कठोर स्वभाव की थीं। वह अक्सर कठोरतापूर्वक बच्चों को पीट देती थीं। इसी कारण श्री अरविन्द को उनका वात्सल्य प्रायः प्राप्त ही नहीं हो सका था।

श्री अरविन्द के जीवनचरित्र में उनके नाना श्री राजनारायण वसु का नाम विशेष उल्लेख्य है। वे देवघर में रहा करते थे। श्री देवेन्द्रनाथ ठाकुर के पश्चात् वे ब्रह्मसमाज के प्रधान हो गए थे और 'ऋषि राजनारायण' के नाम से प्रसिद्ध थे। वे भारतीय व पाश्चात्य दर्शन, इस्लाम इत्यादि के गंभीर विद्वान् थे, प्रभावी वक्ता थे, महान् देशभक्त थे। वे अंग्रेज़ी शिक्षा-दीक्षा के समर्थक नहीं थे और जब उनके जामाता डा० कृष्णधन घोष चिकित्सा विज्ञान के विशेपाध्ययन के लिए इंग्लैण्ड गए थे तो अंग्रेज़ी में चार सॉनेट लिखने के माध्यम से श्री रामनारायण वसु ने उन्हें यही कहा था—"जाओ, बिना स्व को खोए हुए पश्चिम से विद्या प्राप्त करो।" परन्तु डा० कृष्णधन घोष पश्चिमी रंग में रंगकर ही लौटे थे, यह देखकर वे मर्माहत भी हुए थे। किन्तु फिर भी उन्होंने सम्बन्धों में विकार उत्पन्न नहीं होने

दिया क्योंकि वे यह जानते थे कि डा० कृष्णधन महान् हैं। 'आत्मचरित' में उन्होंने लिखा है—"उनमें अनेक असाधारण गुण हैं। वे पूर्णतया भद्र हैं। माया के चक्कर से परे और परोपकारी हैं। विदेश में प्रवास में उनके ये गुण नष्ट नहीं हुए। उनका मन अतिशय मधुर है। वही माधुर्य उनकी मुखश्री से प्रकट होता है।"

स्वयं श्री राजनारायण वसु हिन्दू धर्म के महान् व्याख्याता थे। उनका 'हिन्दू धर्म की श्रेष्ठता' पर १८७२ का ऐतिहासिक भाषण बहुप्रशंसित, बहुचर्चित हुआ। महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर के सभापतित्व में 'नेशनल सोसायटी' की सभा में दिया गया यह भाषण ईसाइयों को ही नहीं, स्वयं केशवचन्द्र सेन को भी झकझोरने वाला बना। उन्होंने महान् हिन्दू राष्ट्र के पुनर्जागरण का संदेश भी इस भाषण में दिया था और जाति-भेदों के होते हुए भी हिन्दुत्व के महान् तथा सर्वोच्च सामाजिक आदर्श की प्रभावी व्याख्या की थी। अंत में उन्होंने रवीन्द्रनाथ ठाकुर के अग्रज तथा प्रथम भारतीय आई० सी० एस० सत्येन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा रचित एक राष्ट्रीय गीत भी गाया और उसके द्वारा भी भारत के पुत्रों को संगठित होकर अनुपम भारत के गौरव-गान करने का आह्वान किया गया था। इस भाषण की भूरि-भूरि प्रशंसा स्वयं श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी ने की थी।

श्री राजनारायण वसु ने १८६७ में 'हिन्दू मेला' का प्रवर्तन किया था। राष्ट्र-भक्तिपूर्ण गीतों, कविताओं आदि के द्वारा हिन्दुत्व के जागरण का यह प्रयास अत्यधिक प्रशंसित एवं प्रभावी हुआ और १४ वर्षों तक यह मेला चलता रहा। इसी के चौथे अधिवेशन के पश्चात् 'नेशनल सोसायटी' की स्थापना की गई थी। हिन्दू राष्ट्रवाद के महान् व्याख्याताओं में श्री बंकिमचन्द्र चटर्जी, श्री नवगोपाल आदि के साथ श्री राजनारायण वसु का नाम सदैव आदर से लिया जाएगा। वे यह स्पष्ट रूप से जानते थे कि अंग्रेज़ भारत के शत्रु हैं और खुले शब्दों में यह प्रकट भी करते थे। १८६१ में उनके इन शब्दों की तीक्ष्णता प्रशंसनीय ही कही जाएगी—

"क्या तुम लोग इतने मन्दबुद्धि हो कि यह भी नहीं समझ सकते कि ये विजेता मानव सुहृदों के समूह नहीं हैं ? वे तुम्हारे हित के लिए नहीं अपितु अपने स्वार्थ-साधन के लिए आए हैं। क्या तुम सोचते हो कि वे अपने बर्मिघम और मैनचेस्टर से उदासीन होकर तुम्हारी कला और उत्पादन को प्रश्रय देंगे ? पद-दलित जाति के लोगो ! ध्यान रखो, उन्नति के इच्छुकों को स्वयं प्रयत्न करना होता है।"

श्री अरविन्द के मन में अपने नाना के प्रति असीम श्रद्धा थी। उनसे वे बाद में अनेक बार मिले भी। श्री वसु भी अपने दोहित्र के सद्विकास को देखकर असीम आनन्द प्राप्त करते थे किन्तु दोनों के पारस्परिक सहयोग का अधिक विवरण ज्ञात नहीं है। हां, ऋषि राजनारायण वसु के देहावसान पर श्री अरविन्द की कविता अवश्य एक सच्ची श्रद्धांजलि के रूप में महत्त्वपूर्ण है।

४. शिक्षा के लिए प्रवासी

"मेरा विश्वास है कि उस अंधकार का मुझ पर छाने वाले तम से सम्बन्ध था। इसने मुझे तब छोड़ा जब मैं भारत आ रहा था।"

—श्री अरविन्द

(क) शिक्षा का प्रारम्भ

श्री अरविन्द के शैशव की अधिक घटनाएं प्राप्त नहीं हैं। अपने मामा योगेन्द्र को दिए गए उत्तर की रोचकता के कारण एक घटना अवश्य उल्लेखनीय है। योगेन्द्र ने एक बार दर्पण हाथ में लेकर बालक अरविन्द को दिखाकर कहा, "देखो बन्दर!" बालक न तो चिढ़ा और न ही चुप रहा। उसने शीघ्र ही मामा की ओर दर्पण घुमाकर कहा, "बड़ा मामा, बड़ा बन्दर।" पाश्चात्यों के द्वारा भारतीयों के उपहास का बदला भी उन्होंने इसी प्रकार लिया था। दर्पण घुमाने की कला में वे तभी से पारंगत थे, यह कहा जा सकता है!

पांच वर्ष की अवस्था में (१८७७ ई०) उनके पिता ने अरविन्द और दोनों बड़े पुत्रों—विनयभूषण और मनमोहन—को दार्जिलिंग के 'लोरेटो कान्वेण्ट' स्कूल में प्रविष्ट करा दिया। यह विद्यालय भारतस्थित यूरोपीय अधिकारियों के बालक-बालिकाओं की यूरोपीय ढंग की शिक्षा-दीक्षा के लिए स्थापित था। आयरिश शिक्षिकाओं के इस विद्यालय में बालक अरविन्द प्राय: दो वर्ष भाइयों के साथ ही रहा—छुट्टियों में अवश्य माता-पिता व नाना के पास जाने को मिलता था। ब्रिटेन में भावी शिक्षा प्राप्ति के लिए तैयार होने के लिए तीनों भाइयों को वहां रखा गया था। उस काल की दो रोचक घटनाएं उल्लेख्य हैं।

पहली घटना से मनमोहन के स्वभाव पर प्रकाश पड़ता है। शयनघर में जहां विद्यार्थियों के सोने की व्यवस्था थी, मनमोहन द्वार के पास सोया करता था। श्री पुराणी के अनुसार—"एक रात्रि कोई विद्यार्थी देर से आया और द्वार खोलने की प्रार्थना करते हुए खट-खट की। मनमोहन ने उत्तर दिया—'मैं नहीं खोल सकता, मैं सो रहा हूं।'"

दूसरी घटना रहस्यमयी व महत्त्वपूर्ण है और श्री अरविन्द के शब्दों में इस प्रकार है—"मैं एक दिन लेटा हुआ था। अकस्मात् एक बड़ा अंधकार तेज़ी से मेरी ओर बढ़ता हुआ तथा मुझे व सम्पूर्ण विश्व को चारों ओर से घेरता हुआ मुझे दिखाई दिया। उसके पश्चात् इंग्लैण्ड में मेरे प्रवास-भर घोरतम अंधकार या तमोगुण मुझ पर छाया रहा।" श्री अरविन्द ने इस घटना का रहस्य बताते हुए यह भी कहा था—"मेरा विश्वास है कि उस अंधकार का मुझ पर छाने वाले तम से सम्बन्ध था। इसने मुझे तब छोड़ा जब मैं भारत वापस आ रहा था।"

सूक्ष्म जगत की ऐसी घटनाओं को असाधारण तो कहा जा सकता है परन्तु मिथ्या नहीं।

(ख) इंग्लैंड में प्रारंभिक पांच वर्ष

अरविन्द सात वर्ष के थे जब अपने पिता के साथ उन्होंने ब्रिटेन में शिक्षा पाने के लिए लम्बी यात्रा की। १८७९ की इस यात्रा में डा० घोष ने सरोजिनी सहित तीनों पुत्रों व पत्नी को भी साथ ले लिया था। ५ जनवरी, १८८० को उनके सबसे छोटे पुत्र बारीन्द्र कुमार घोष का जन्म क्रोयडन (लंदन) में हुआ और जैसे उन्होंने बालक अरविन्द का नाम एक्रायड अरविन्द घोष रखा था, वैसे ही इस बालक का नाम 'एम्मेनुयल घोष' रखा गया। इंग्लैण्ड में जन्म लेने के कारण ही कालान्तर में अलीपुर बम काण्ड में प्राणदण्ड पाकर भी बारीन्द्र की प्राणरक्षा हो सकी थी। विधाता के विधान की महिमा कितनी अद्भुत है!

शीघ्र ही डा० घोष अकेले भारत वापस आ गए और कुछ समय पश्चात् सरोजिनी व बारीन्द्र के साथ श्रीमती स्वर्णलता भी। परन्तु पत्नी की पागलों जैसी अवस्था के कारण डा० घोष ने उन्हें अपने साथ नहीं रखा। अपने तीनों पुत्रों को विदेश में रुपये भेजने के उनके नियम में भी कुछ वर्षों बाद से ही क्रमशः अधिकाधिक शिथिलता आती गई, क्योंकि वे धन को सार्वजनिक कार्यों से बचा ही नहीं पाते थे।

डा० घोष ने मैनचेस्टर में अपने मित्र रंगपुर के मजिस्ट्रेट के भाई विलियम एच० ड्रिवेट व उनकी पत्नी को अपने तीनों पुत्र सौंप दिए थे। श्री ड्रिवेट स्टाक पोर्ट रोड चर्च (अब आक्टैगॉनल चर्च) के पादरी थे और अपने चर्च के समीप (८४, शेक्सपियर स्ट्रीट) रहा करते थे। डा० घोष ने उन्हें यह स्पष्ट निर्देश दे दिया था कि इन बालकों पर भारतीय प्रभाव बिलकुल न पड़ने दिया जाए। यहाँ तक कि किसी भारतीय से उनका परिचय तक न होने दिया जाए। श्री ड्रिवेट ने दोनों बड़े बालकों को तो मैनचेस्टर ग्रामर स्कूल में प्रवेश दिला दिया किंतु अरविन्द इतनी कम अवस्था में विद्यालय के योग्य नहीं थे। अतः श्री ड्रिवेट ने उन्हें घर पर ही अंग्रेज़ी व लैटिन पढ़ाना शुरू किया तथा श्रीमती ड्रिवेट ने फ्रेंच, इतिहास, भूगोल

और गणित। बालक अरविन्द ने यह सब सीखने में तो अपनी प्रतिभा प्रकट की ही, इस बीच अपनी रुचि की अनेकानेक पुस्तकें भी पढ़ डालीं। खेल के मैदान से दूर रहने वाले इस बालक ने बाइबिल तथा शेक्सपियर, शैली व कीट्स के वाङ्मय को तभी पढ़ डाला था। आश्चर्य की बात तो यह है कि तभी से वे कविता करने लगे थे और 'फाक्स फैमिली मैगज़ीन' में उनकी कविताएं प्रकाशित भी होती थीं।

श्री अरविन्द को ईसाई बनाने के प्रयत्न—श्रीमती ड्रिवेट के द्वारा—सफल नहीं हो सके। एक बार तो दस वर्षीय अरविन्द को ईसाई बनाने का एक असफल नाटक भी किया गया। यहां यह उल्लेखनीय है कि डा० घोष की धर्म में कोई रुचि न थी, फिर भी वे पुत्रों के ईसाईकरण के पक्ष में नहीं थे और बच्चों को बड़े होने पर अपनी रुचि का सम्प्रदाय चुनने देने की बात श्री ड्रिवेट को बता चुके थे। अरविन्द एक्रायड घोष नाम होने की वजह से यह प्रचार भी भारत में एक बार किया गया था कि अरविन्द ईसाई हो गए थे। किन्तु सत्य तो यह है कि वे कभी ईसाई नहीं बने और उनके नाम में 'एक्रायड' शब्द का रहस्य श्री पुराणी की खोज के अनुसार 'कुमारी एक्रायड' के नाम में है। उन्होंने १८ नवम्बर, १८७३ को भारतीय महिलाओं के लिए 'हिन्दू महिला विद्यालय' की स्थापना (२२, बनियापुकुर लेन, कलकत्ता में) की थी और वे बैरिस्टर मनमोहन घोष से मित्रता के कारण उन्हीं के घर जन्मे बालक के नामकरण संस्कार के समय आमंत्रित व उपस्थित थीं। डा० कृष्णधन घोष ने अपने पुत्र को अंग्रेज़ी जीवन-पद्धति में ढालने के लिए ही उसका नाम उपस्थित ब्रिटिश महिला के नाम पर रख दिया था। श्री अरविन्द ने स्वेच्छा से ही बाद में इस नाम को भारत आने से पहले त्याग दिया था।

१८८५ ई० में श्री ड्रिवेट पत्नी सहित आस्ट्रेलिया चले गये और उनकी इच्छानुसार विनयभूषण, मनमोहन और अरविन्द को लेकर उनकी माता, वृद्धा श्रीमती ड्रिवेट, लंदन (४७ सेंट स्टेकिंस एवेन्यु) में सितम्बर १८८४ से जुलाई १८८७ तक रहती रहीं।

(ग) लंदन में पांच वर्ष

श्री अरविन्द १८८४ ई० में लंदन के 'सेंट पाल स्कूल' के छात्र हो गये और दिसम्बर १८८९ तक वे उसके छात्र रहे। वहीं से वे किंग्स कालेज कैम्ब्रिज में प्रविष्ट हुए थे। उनके जीवन के इन पांच वर्षों के विषय में, जो अवश्य ही उनके विकास में महत्त्वपूर्ण रहे होंगे, हमें बहुत कम पता है। परन्तु फिर भी जो कुछ ज्ञात है उससे विद्यार्थी अरविन्द की श्रेष्ठता का परिचय मिलता है।

सेंट पाल स्कूल के डा० वाकर एक विशेष प्रकार के अध्यापक थे। वे प्रवेशार्थियों की स्वयं परीक्षा लेते और संतुष्ट होने पर ही प्रवेश देते। प्रवेश के समय जिन छात्रों की प्रतिभा से वे प्रभावित हो जाते, उन्हें असीमित स्नेह, सहायता

और मार्गदर्शन भी दिया करते थे। उनकी अध्यापन पद्धति भी असाधारण ही थी क्योंकि वे नियमित कक्षाओं में पढ़ाने के स्थान पर विद्यार्थी को उसके कमज़ोर विपय में तेज़ करने के लिए ही पढ़ाया करते थे। वालक अरविन्द की लैटिन में दक्षता देखकर वे अत्यन्त प्रभावित हुए और ग्रीक भापा में कमज़ोर पाकर उन्होंने स्वयं रुचि के साथ अरविन्द को ग्रीक पढ़ाई। अरविन्द ने भी जल्दी-जल्दी अनेक कक्षाओं में उन्नति पा ली। यहां उन्होंने इटालियन सीखी और थोड़ी-थोड़ी जर्मन व स्पेनिश भी। प्राचीन साहित्य के अध्ययन में अधिक रुचि होने के कारण इन्होंने अंग्रेज़ी साहित्य, विशेपतः काव्य तथा उपन्यास, फ्रेंच साहित्य तथा प्राचीन से लेकर अर्वाचीन काल तक योरोप के इतिहास का गहरा अध्ययन किया। कविता लिखने में भी अरविन्द का वहुत समय जाता था। कक्षाओं का पाठ्यक्रम उनके लिए छोटी वस्तु थी। जैसा श्री छोटेनारायण शर्मा ने 'श्री अरविन्द' में लिखा है—"वे वाहरी अध्ययन में लगे हुए थे। भिन्न-भिन्न सूत्रों से ज्ञान उनमें एकत्रित हो रहा था। योरोप के प्राणवन्त देशों में जो ज्ञान की परम्परा थी, साहित्य का जो विकास शताब्दियों से उनमें हुआ था, श्री अरविन्द उनके तत्त्वों का संचय कर रहे थे।"

विद्यार्थी अरविन्द ने अपनी प्रतिभा का परिचय अनेक पुरस्कार जीतकर भी दिया। वहां के उपलव्ध विवरणों से यह सिद्ध है कि वे वहां की साहित्य परिपद् आदि में वहुत सक्रिय थे। उदाहरणार्थ ५ नवम्वर, १८८६ को 'स्विपट के राजनीतिक विचारों की असंगतता' विपय पर उनका वाद-विवाद में पुरस्कृत होना तथा १६ नवम्वर, १८८६ को 'मिल्टन' पर हुए वाद-विवाद में भाग लेना प्रसिद्ध है। इतिहास व साहित्य-सम्वन्धी स्पर्द्धाओं में भी वे भाग लेते रहे और अनेक वार पुरस्कृत भी हुए। उदाहरणार्थ, अरविन्द ने साहित्य में वटरवर्थ द्वितीय पुरस्कार तथा इतिहास में वेडकोर्ड पुरस्कार जीते थे। "पुरस्कार में मिली 'अरेवियन नाइट्स' की एक सचित्र प्रति उनके पास वहुत काल तक रखी रही थी।"

इस अवधि में श्री अरविन्द और उनके दोनों भाई अत्यन्त निर्धनता का जीवन विता रहे थे। इसका एकमात्र कारण यही था कि उनके पिता अव धन भेजना प्रायः वन्द कर चुके थे। इस वीच मनमोहन घोप द्वारा लिखे गये तथा कुछ अन्य पत्रों से श्री पुराणी ने घोप वन्धुओं के आर्थिक कष्ट का सजीव चित्रण किया है। इस आर्थिक संकट के मध्य भी विद्यार्थी अरविन्द साहित्यिक प्रगति कर रहे थे तथा पुरस्कार जीत रहे थे, इस वात ने उनके अध्यापकों को भी अत्यन्त प्रभावित किया था।

अप्रैल १८८७ में श्री ड्रिवेट की वृद्धा माता का साथ छूटने की वात आ गयी। तव मनमोहन एक 'लॉज' में चले और वड़े भाई विनयभूपण के साथ विद्यार्थी अरविन्द ने एक अन्य स्थान (१२८, क्रामवेल रोड) में (अगस्त-सितम्वर १८८७ से) रहना प्रारम्भ कर दिया। इस परिवर्तन के पीछे एक घटना रोचक होने से

उल्लेखनीय है। वृद्धा ईसाई महिला के घर पर पारिवारिक प्रार्थना कार्यक्रम चलता था, जिसमें बाइबिल के भी कुछ अंश पढ़े जाते थे। एक दिन मनमोहन ने टिप्पणी कर दी कि "अच्छा हुआ जो हजरत मूसा का कहना लोगों ने नहीं माना।" बस फिर तो वृद्धा की ईसाई भावना भड़क उठी और उसने कहा—"ऐसे नास्तिकों के साथ मुझे नहीं रहना क्योंकि परमात्मा के कोप से मकान ही गिर पड़ेगा। उसने केवल कहा ही नहीं, वरन् वह अन्यत्र चली भी गयी। तब तो नीरस धार्मिक कार्यक्रम से छुट्टी मिलने पर बालक अरविन्द को अत्यधिक प्रसन्नता हुई। उन्होंने एक बार कहा था—"हमें झंझट से मुक्ति मिलने का अनुभव हुआ और मैंने दादा (मनमोहन) के प्रति असीमित कृतज्ञता प्रकट की।...उन दिनों मेरा सत्य बोलने पर विशेष ध्यान नहीं था और मैं एक बहुत कायर व्यक्ति था। कोई तब यह कल्पना भी नहीं कर सकता था कि बाद में चलकर मैं फांसी का सामना भी कर सकूंगा या एक क्रांतिकारी आन्दोलन चला सकूंगा। मुझे मानवीय अपूर्णता से प्रारम्भ करना पड़ा और दिव्य चेतना ग्रहण करने से पूर्व सभी कठिनाइयां अनुभव करनी पड़ी थीं।"

इस घटना के पश्चात् हेस्टिंग्ज में अवकाश बिताकर विनयभूषण तथा अरविन्द एक क्लब में रहने चले गये (क्रामवेल रोड पर स्थित साउथ कैनसिंगटनलिबाल क्लब के सबसे ऊपर का कमरा)। यहां वे अप्रैल १८८९ तक रहे और वहां से ही फिर वे लॉज में चले गये और वहां (२८, कैम्पस फोर्ड गार्डन्स, अलेस कोर्ट, साउथ कैनसिंगटन), वे कैम्ब्रिज जाने तक रहे। मई १८८८ में अरविन्द अपने एक मित्र के निमंत्रण पर 'गालवे' में छुट्टियां मनाने भी गये थे, ऐसा मनमोहन के एक पत्र से ज्ञात होता है। स्पष्ट है कि अरविंद की एक छोटी मित्र मंडली अवश्य रही होगी परन्तु इनके मित्रों के विषय में विशेष पता नहीं चलता है।

क्लब के कमरे में रहते हुए विनयमोहन ने केवल पांच शिलिंग प्रति सप्ताह के वेतन पर क्लब के मन्त्री जेम्स एस० काटन (बंगाल के भूतपूर्व गवर्नर सर हेनरी काटन का भाई) का सहायक बनना स्वीकार कर लिया था। कितनी कठिनाई का वह काल था। जो विद्यार्थी सुख-सुविधाओं के अभाव में पढ़ाई न हो सकने का तर्क दिया करते हैं, उन्हें श्री अरविन्द का उदाहरण हृदय पर गंभीरता से अंकित कर लेना चाहिए—

"इस अवधि में अरविन्द को प्रातःकाल डबलरोटी व चाय के साथ शूकर मांस का एक खंड और तीसरे पहर की चाय के साथ कुछ पेस्ट्री या सेण्डविच (१ पेनी की) ही मिलता था। लगभग दो वर्ष तक इस छोटी अवस्था में भी उन्हें प्रायः रात्रि-भोजन के बिना रहना पड़ा था।" यही नहीं, "लन्दन के कड़े जाड़े से आत्म-रक्षा के लिए उनपर ओवरकोट भी नहीं था और जहां वह सोया करते, उस कार्यालय में तापने की भी कोई व्यवस्था नहीं थी। और, न उनका शयनकक्ष

ही ठीक-ठाक था।"

सेंट पाल विद्यालय में अरविन्द ने पाँच वर्ष अध्ययन किया था। अन्तिम दो वर्षों में वे आई० सी० एस० (इण्डियन सिविल सर्विस) के भी प्रत्याशी हो गए थे। उसके लिए साहित्य तथा अन्य जो विषय उन्होंने चुने थे, वे अत्यधिक कठिन थे परन्तु उनकी तैयारी अरविन्द ने अपने आप ही की। और लोग तो प्राइवेट शिक्षक रखकर पढ़ा करते थे, क्योंकि आई० सी० एस० का शिक्षा-स्तर बहुत ऊंचा था, परन्तु अरविन्द पर तो भोजन के लिए भी पर्याप्त धन न था। विनयभूषण ने भी आई० सी० एस० में चुने जाने के लिए परीक्षा दी और अरविन्द ने भी। किन्तु विनयभूषण को असफलता मिली और अरविन्द को ग्यारहवां स्थान प्राप्त हुआ। साहित्य में अरविन्द को बहुत अच्छे अंक मिले थे।

यह उल्लेखनीय है कि विद्यार्थी अरविन्द का बहुत समय पाठ्यक्रम के स्थान पर विस्तृत अध्ययन में बीता करता या कविता करने में। उनके अध्यापकों को यह चिन्ता स्वाभाविक थी कि अरविन्द जैसा प्रतिभाशाली छात्र पाठ्यक्रम पर अधिक समय लगाए। किन्तु अरविन्द अपनी धुन में ही मस्त रहे। उन दिनों के विषय में श्री अरविन्द ने एक बार कहा था—"पन्द्रह वर्ष की अवस्था तक मुझे सेंट पाल विद्यालय में बहुत होनहार छात्र माना जाता था। उसके पश्चात् मेरी यह प्रतिष्ठा समाप्त हो गयी। अध्यापक कहने लगे थे कि मैं सुस्त हो गया हूं और बिगड़ रहा हूं। मैं उपन्यास व काव्य पढ़ा करता। केवल परीक्षा के समय में थोड़ी-बहुत तैयारी करता।" और "जब मैं प्रायः ग्रीक व लैटिन में काव्य रचना किया करता तो मेरे अध्यापक खिन्न होते कि मैं सुस्ती के कारण अपनी विलक्षण प्रतिभाओं का उपयोग नहीं कर रहा था।"

परन्तु अध्यापकों की उच्च धारणा फिर से पूर्ववत् हो गई जब सेंट पाल स्कूल की अन्तिम वर्ष की परीक्षा में 'क्लासिक्स' की छात्रवृत्ति के लिए उन्होंने सर्वोच्च अंक प्राप्त किए। यह ८० पौंड की छात्रवृत्ति अरविन्द और उनके भाइयों के लिए एक बड़ी सहायता थी। आई० सी० एस० के छात्र होने का (प्रोबेशनरी) भत्ता मिला कर यह राशि इतनी अवश्य थी कि वे किंग्स कालिज कैम्ब्रिज में उच्चतर शिक्षा के लिए प्रवेश ले सकें और दोनों भाइयों की भी कभी-कभी कुछ सहायता कर सकें परन्तु इसे जैसे-तैसे काम चलाना ही कहेंगे क्योंकि माता-पिता की भेजी धनराशि के अभाव में उनका काम रुक जाया करता था। अरविन्द को कैम्ब्रिज में अध्ययन के लिए लन्दन छोड़ना पड़ा और अक्तूबर १८९० से दो वर्ष तक उनका समय कैम्ब्रिज में बीता।

निस्सन्देह इस बीच उनके दोनों भाई विकास कर रहे थे। मनमोहन को इंग्लैण्ड से प्रेम था और उन्होंने वहां स्थायी रूप से बसने का विचार भी किया था किन्तु वैसा हो नहीं सका। अंग्रेजी कविता में डूबे रहने वाले मनमोहन के विषय

में एक रोचक घटना श्री अरविन्द ने एक बार सुनाई थी—"हम लोग कम्बरलैण्ड में घूम रहे थे। हमने देखा कि वह (मनमोहन) तो आधा मील पीछे रह गया था। वड़े आराम-आराम से चल रहा था और गंभीर स्वर में कविता गा रहा था। उसके सामने एक खतरनाक स्थान था अतः हमने उससे चिल्लाकर कहा, "जल्दी आओ।" रोचक बात यह भी रही कि मनमोहन ने बिलकुल चिन्ता न करते हुए, जैसे चल रहा था, वैसे ही, चलना जारी रखा। भारत में आने पर भी मनमोहन कविता-प्रेमी ही रहे और प्रसिद्ध अंग्रेजी कवि हुए।

यह स्वाभाविक था कि विनयभूषण ज्येष्ठतम भाई होने के नाते उत्तरदायित्व का अनुभव करते किन्तु मनमोहन उनकी निरी व्यावहारिकता का उपहास किया करते। एक बार रोगशय्या पर से मित्र लारेंस बिन्योन को लिखे गए अपने पत्र में मनमोहन ने एक रोचक बात का उल्लेख किया है। विनयभूषण मनमोहन को देखने गए तो मनमोहन को वड़ी प्रसन्नता के साथ यह कहकर सांत्वना दी कि हर व्यक्ति को कभी न कभी मरना ही है, फिर क्या चिन्ता। श्मशान भी तो बिलकुल ही पास है। और अपने पैसे की कमी वताते हुए यह आशा भी व्यक्त की कि शायद वहां अंतिम संस्कार में अधिक व्यय नहीं होता होगा।

(घ) कैम्ब्रिज में दो वर्ष और आई० सी० एस० को ठोकर

विद्यार्थी अरविन्द ने किंग्स कालिज कैम्ब्रिज में अक्टूबर १८९० से अक्टूबर १८९२ तक अध्ययन किया। निस्सन्देह अरविन्द को दो तैयारियां करनी थीं—कैम्ब्रिज की क्लासिकल ट्राइपोस के लिए और आई० सी० एस० के लिए। दोनों में ही पाठ्यक्रम के गहरे अध्ययन की आवश्यकता थी। परन्तु अरविन्द पाठ्यक्रम में खो जाने वाले व्यक्ति न थे। उनका ग्रीक व लैटिन कविता करने का कार्यक्रम निरन्तर चलता रहा, साथ ही विस्तृत अध्ययन भी और पाठ्यक्रम भी। १८९०-९२ के मध्य उनकी कविताएं वाद में भारत में प्रकाशित भी हुई हैं—'सांग्स टू मिर्टिला' के नाम से। १८९१ में आयरलैण्ड के नेता पारनेल की मृत्यु पर अरविन्द ने उन पर एक कविता भी लिखी थी। प्रतिभाशाली अरविन्द ने किंग्स कालिज में ग्रीक और लैटिन कविता के लिए वर्ष भर के अनेक पुरस्कार जीत लिए थे। ट्राइपोस के प्रथम खण्ड की परीक्षा उन्होंने द्वितीय वर्ष के अन्त में प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की। वे बी० ए० की डिग्री के अधिकारी थे और नियमतः तीसरा वर्ष पूरा होते ही या प्रार्थनापत्र देकर पहले भी प्राप्त कर सकते थे। किन्तु अरविन्द ने इस पर ध्यान नहीं दिया। इंग्लैण्ड में डिग्री का वैसे भी महत्त्व उन्हीं के लिए होता है जो आगे अध्ययन-अध्यापन करना चाहें।

आई० सी० एस० की सत्रांत परीक्षा भी उन्होंने उत्तीर्ण कर ली और आई० सी० एस० में एक प्रकार से उत्तीर्ण ही थे पर तभी एक आश्चर्यजनक घटना

घटी। विलक्षण प्रतिभाशाली अरविन्द घुड़सवारी परीक्षा में सम्मिलित न होने से आई० सी० एस० में चुने नहीं जा सके। बहुत समय तक यह समझा जाता रहा कि अरविन्द उस परीक्षा में निर्धनता के कारण ठीक समय पर न पहुंच सके और इस कारण वे आई० सी० एस० न हो सके अथवा ब्रिटिश शासकीय नीति के द्वारा वे जानबूझकर उससे वंचित कर दिए गए परन्तु सत्य कुछ और ही है।

सत्य तो यह है कि उन्होंने आई० सी० एस० परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् भी उसमें अपना चयन न हो पाने की योजना बनाई थी। उनके पिता उन्हें आई० सी० एस० देखना चाहते थे। उनकी आकांक्षा थी कि अरविन्द उच्चतम सरकारी अधिकारी के रूप में प्रतिष्ठित हों। किन्तु कैम्ब्रिज में रहते-रहते ही अरविन्द के मन में जो भारत-भक्ति तथा क्रांति के भाव जाग उठे थे उसके लिए पिताजी से आई० सी० एस० को ठुकराने की अनुमति मिलना संभव न था। अपने पूज्य पिता की खुली अवज्ञा कर उनके हृदय को चोट पहुंचाना भी वे नहीं चाहते थे। अतः उन्होंने बड़ी कुशलता से यह युक्ति की कि विभिन्न बहानों से वे घुड़सवारी की परीक्षा में सम्मिलित ही न हों और इस प्रकार आई० सी० एस० में उत्तीर्ण होने पर भी उनका चुनाव रुक गया। श्री अरविन्द ने स्वयं ही पांडीचेरी में रहते समय यह तथ्य प्रकट भी किया था।

श्री पुराणी ने 'इंडिया आफिस लाइब्रेरी' में उपलब्ध शासकीय सामग्री इत्यादि को प्रकाशित कर यह स्पष्ट कर दिया है कि श्री अरविन्द को परीक्षा के अवसर पर अवसर मिले किन्तु वे सम्मिलित हुए ही नहीं। उदाहरणार्थ सिविल सर्विस कमिश्नर के द्वारा सेक्रेटरी आफ स्टेट को लिखे गए १७ नवम्बर, १८९२ के पत्र में स्पष्ट लिखा गया है—"यद्यपि श्री ए० ए० घोष को घुड़सवारी की परीक्षा में सम्मिलित होने के अनेक अवसर दिए गए...तथापि वह निश्चित समय पर उपस्थित होने में बार-बार असफल रहे।"

निस्सन्देह आई० सी० एस० को अन्तरात्मा की प्रेरणा के अभाव में ही उन्होंने तिलांजलि दे दी थी। क्योंकि यह जगमगाता सत्य है कि उस प्रतिभाशाली युवक के लिए कुछ भी असंभव न था। आई० सी० एस० का यह परित्याग एक महान् त्याग ही था। भौतिक वैभव और विलास पर यह एक ठोकर थी। इसने देशभक्त भारतीयों के लिए एक आदर्श, एक उदाहरण प्रस्तुत किया था। स्वयं अरविन्द के लिए भी इसने एक महान् भविष्य का द्वार खोल दिया था। राष्ट्र-भक्ति के कंटकाकीर्ण पथ पर चलकर इतिहास को दिशा देने के लिए ही वह पृथ्वी पर आए थे। भारत माता के चरणों में यह उनका पहला उपहार था। दिव्य जीवन की तैयारी में यह प्रथम पग था!

अरविन्द में देशभक्ति के इतने उग्र विचारों के मूल में जाने से पूर्व उनके कैम्ब्रिज के विद्यार्थी-जीवन पर उनके सम्बन्ध में आने वालों के विचारों की चर्चा

समीचीन होगी।

कैम्ब्रिज के सीनियर ट्यूटर श्री डब्ल्यू० प्रोथेरो (जिन्हें बाद में 'सर' की उपाधि मिली और इतिहासविद् के रूप में प्रख्यात हुए) श्री अरविन्द के बड़े प्रशंसक थे। श्री अरविन्द के सम्बन्ध में लिखे गये अपने एक पत्र में उन्होंने अरविन्द द्वारा क्लासिकल ट्राइपोस में उच्चांकों में प्रथम श्रेणी पाने तथा अनेक कालिज-पुरस्कार जीतने और इस प्रकार अंग्रेज़ी में साहित्यिक योग्यता प्राप्त करने (और वह भी आई० सी० एस० करते हुए) की प्रशंसा की थी और बाद में लिखा था, "अपनी क्लासिकल विद्वत्ता के अतिरिक्त भी उनका अंग्रेज़ी साहित्य-ज्ञान औसत बी० ए० छात्रों से बहुत अधिक था और वह अधिकांश अंग्रेज़ युवकों से अधिक सुन्दर अंग्रेज़ी लिखते थे।"

डा० घोष की भी अपने तीनों पुत्रों के विषय में और विशेषत: अरविन्द के विषय में बड़ी उच्च धारणाएं थीं। अपने साले योगेन्द्र वसु को खुलना से २ दिसम्बर १८६१ को लिखे गए एक पत्र में उनके शब्द थे—

"अपने तीनों पुत्रों को मैंने महान् बना दिया है। मैं तो नहीं, पर तुम अपने तीनों भांजों को देखने को जीवित रहोगे जो तुम्हारे देश का गौरव बढ़ायेंगे तथा तुम्हारा नाम उजागर करेंगे। मेरा विश्वास है कि अरविन्द उत्कृष्ट प्रशासन द्वारा देश को गौरवान्वित करेगा, मैं तो जीवित नहीं रहूंगा, परन्तु यदि तुम जीवित रहो तो इस पत्र को स्मरण रखना—वह इस समय किंग्स कालिज कैम्ब्रिज में है। और अपनी योग्यता से ही अपना खर्च उठा रहा है।"

कैम्ब्रिज की विभूति माने जाने वाले आस्कर ब्राउनिंग से एक बार कॉफी के कार्यक्रम में हुई भेंट का विवरण अरविन्द ने पिता को २ दिसम्बर, १८६० के पत्र में दिया था। उन्होंने सेंट पाल स्कूल की छात्रवृत्ति परीक्षा में अरविन्द की क्लासि-कल की उत्तर पुस्तिका जांची थी और उसके विषय में उन्होंने अरविन्द से कहा था—"मैंने तेरह परीक्षाओं में उत्तर पुस्तिकाएं जाँची हैं और इस संपूर्ण जांचने में, तुम्हारी जैसी उत्कृष्ट उत्तरपुस्तिका कभी नहीं देखी, और तुम्हारा निबन्ध तो बस कमाल ही था।" यह निबन्ध अरविन्द ने 'शैक्सपियर और मिल्टन' विषय पर लिखा था।

यहां पर आस्कर ब्राउनिंग की एक और उक्ति भी उल्लेखनीय है। उन्होंने अरविन्द से पूछा, "कहां रहते हो?" और जब अरविन्द ने अपना निवास स्थान बताया तो ब्राउनिंग ने कहा—"उस निकम्मे खंदक में" (दैट रेचिड होल) और तब उन्होंने वहां बैठे सभी से कहा—"हम अपने छात्रों के प्रति कितने निर्मम हैं। यहां हम बड़े विद्वान् छात्रों को पढ़ने के लिए बुलाते हैं और फिर उन्हें इस संदूक में बंद कर देते हैं—सम्भवत: इसलिए कि घमंड न हो जाए।" यह १८६० के इंग्लैण्ड का व्यंग है जो आज भी भारतवर्ष में उसी प्रकार अर्थपूर्ण है।

श्री प्रॉथेरो ने सिविल सर्विस कमीशन के अध्यक्ष को लिखे गए एक पत्र में लिखा था—"इस व्यक्ति में योग्यता तो है ही, चारित्र्य भी है, विगत दो वर्ष उसने कष्ट और संकट में बिताए हैं···यदि इस व्यक्ति को केवल घुड़सवारी में न बैठने के कारण ही आई० सी० एस० से छांट दिया गया तो नैतिक दृष्टि में घोर अन्याय होगा और भारत सरकार को बहुत बड़ी हानि होगी।" उन्होंने आगे लिखा था—'ऐसे सुयोग्य हिन्दू को अस्वीकृत कर देने से संभव है कि भारत में कई तरह के भ्रम फैलें और हम लोगों पर पक्षपात का आरोप लगाया जाए।"

एक रोचक बात यह भी जानने योग्य है कि अरविन्द के भाइयों पर उनके आई० सी० एस० में न जाने की क्या प्रतिक्रिया हुई थी। परीक्षा को आखिरी बार टालने के लिए देर तक लंदन की गलियों में घूमने के बाद फिर लौटकर उन्होंने विनय को हँसकर बताया, "मेरी छुट्टी हो गई।" विनय ने दार्शनिक की मुद्रा में सुना और फिर ताश खेलने को कहा। परन्तु जब मनमोहन ने आकर सारी बात सुनी तो पहले तो उसने बहुत शोर मचाया परन्तु शीघ्र ही शान्त हो गया और धूम्रपान के साथ ताश खेलना प्रारम्भ हो गया। निस्सन्देह तीनों भाई तीन विभिन्न प्रकृतियों के थे।

५. भारत-आगमन

"मुझे पद्मवन से सरस्वती ने
सनातन हिमप्रदेश में आने को पुकारा है
और दक्षिण सागर की ओर वहती गंगा ने भी,
गंगा, जिसके तटों पर अदन के पुष्प खिलते हैं।"

—श्री अरविन्द की कविता 'एनवोआय' से
जो भारत आने के ठीक पूर्व लिखी गई थी।

(क) भारत की पुकार

कैम्ब्रिज में अध्ययन करते समय अरविन्द एक प्रतिभाशाली विद्यार्थी के रूप में ही विकास नहीं कर रहे थे, राष्ट्रभक्त के रूप में भी उनका उदय हो रहा था। स्वयं श्री अरविन्द के शब्दों में तव उनकी रुचि "काव्य, साहित्य, भाषाएं सीखने तथा देशभक्तिपूर्ण कार्य में थी।" उन्होंने उस समय तक अंग्रेज़ी, फ्रेंच, लैटिन और ग्रीक पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लिया था। जर्मन, इटालियन, स्पेनिश आदि यूरोपीय भाषाएं भी उन्हें कुछ आ गई थीं। भारतीय भाषाओं में से संस्कृत व बंगला का अभ्यास भी उन्होंने आरंभ कर दिया था।

उन्हें अंग्रेज़ी विचार और साहित्य ने तो आकृष्ट किया था परन्तु इंग्लैण्ड की भूमि में उनके लिए कोई आकर्षण नहीं था। उनके अग्रज मनमोहन पर इंग्लैंड में वसने का नशा चढ़ा हुआ था और वह पराधीन भारत को दुःखी मानकर भी स्वयं सुखपूर्वक इंग्लैंड में वसने का विचार कर रहे थे। (८ अगस्त, १८८७ के) एक पत्र में वह लिखते हैं—"मैं तो राजनीति से छुट्टी कर रहा हूं—मुझे अपने दुःखी देश को अपने हाल पर छोड़ना होगा। जैसा उसके भाग्य में होना है, होवे और वास्तव में मैं उसकी कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। मैं तो केवल काव्य में लीन हो जाऊंगा। श्री अरविन्द को फ्रांस के प्रति कुछ आकर्षण अवश्य उत्पन्न हुआ परन्तु वह वहां के साहित्य और इतिहास के अध्ययन का परिणाम था। श्री अरविन्द को भारत की पराधीनता चुभने लगी थी। सवसे प्रारंभिक प्रेरणा तो अवश्य ही उनके पिता की रही होगी। उन पिता की, जो ब्रिटिश जीवन-पद्धति के वड़े भक्त थे और भारतीय

वातावरण से पूर्णतया दूर रखकर अपने बालकों को 'साहब' बनाना चाहते थे। हुआ यह कि अपने जीवन के अन्तिम चरण में श्री घोष को भी यह समझ में आ गया था कि शासक अंग्रेज़ों में मानवता का प्राय: अभाव है और वे भारतीयों के प्रति कठोर दुर्व्यवहार करते हैं। अपने विदेस्थ पुत्रों को लिखे गए पत्रों के साथ वे 'दी बंगाली' समाचार-पत्र के उन अंशों को भी रेखांकित करके भेजने लगे थे जिनमें ब्रिटिश सरकार के भारत में अत्याचारों का वर्णन रहा करता। बालक अरविन्द के संवेदन-शील मन पर इसकी अवश्य ही गहरी छाप पड़ी होगी।

बाल्यावस्था से ही श्री अरविन्द को यह भी लगता था कि विश्व में भारी परिवर्तन होने वाले हैं और उसमें उनका भी एक महत्त्वपूर्ण भाग रहेगा। वास्तव में अपने सम्बन्ध में इस प्रकार की सहज धारणा ने उनके भावी चरित्र को असाधारण रूप से प्रभावित किया है।

भारत को ब्रिटिश पराधीनता से मुक्त कराने की तीव्र कामना अरविन्द के मन में बैठती चली गई। और कैम्ब्रिज में 'इण्डियन मजलिस' नामक भारतीय छात्रों की संस्था जब उनके सामने ही स्थापित हुई तो वे भी उसके सदस्य बन गए। इस संस्था ने अनेक भारतीय युवकों को स्वतन्त्रता-प्राप्ति की दिशा में प्रभावित किया और वहां पर भारत की स्वतन्त्रता तथा सम्बन्धित विषयों पर खुलकर होने वाले वाद-विवाद, भाषण इत्यादि में उग्र वाणी वाले अरविन्द ने शीघ्र ही यश प्राप्त कर लिया। वे इस संस्था के कुछ काल मंत्री भी रहे।

अरविन्द का कैम्ब्रिज से लौटकर लन्दन में रहते हुए एक अन्य गुप्त संस्था से भी सम्बन्ध आया, जिसका नाम 'लोटस ऐण्ड डेगर' (कमल और कटार) रखा गया था। लंदन-स्थित कुछ भारतीय विद्यार्थियों ने, जिनके मन में भारत की स्वा-धीनता के लिए कुछ करने की भावना थी, इस संस्था की स्थापना की थी। इसके प्रत्येक सदस्य को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती थी कि वह भारत को स्वतन्त्र कराने में भी सक्रिय होगा तथा इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए कुछ विशेष कार्य भी लेगा। अरविन्द, विनय तथा मनमोहन तीनों ही इसके सदस्य बन गए थे। कालान्तर में श्री अरविन्द ने इस प्रतिज्ञा को किस प्रकार निभाया, यह हम देखेंगे।

निस्सन्देह पराधीनता को मिटाकर स्वतन्त्र और भव्य भारत के निर्माण की कल्पना ने श्री अरविन्द को इतना प्रभावित किया था कि आई० सी० एस० का प्रलोभन उनके लिए रंचमात्र भी न रह सका। वे सरकारी यंत्र के पुर्जे बनकर भारत की पराधीनता को और बढ़ाने में सहायक बनने को तैयार न थे। स्वतंत्र विचार की क्षमता, विश्व की परिस्थितियों की समीक्षा करने की सामर्थ्य तथा कठिनाइयों को झेल सकने के वज्र-संकल्प ने अरविन्द को अपना स्वतन्त्र पथ चुनने की भव्य प्रेरणा दी जिसने उनकी ही नहीं इतिहास की भी दिशा ही बदल दी। उनकी मन:स्थिति में तब यह भावना अवश्य अंकित रही होगी कि अपनी मातृभूमि

मां है और "मां की छाती पर बैठकर यदि कोई राक्षस रक्तपात करने के लिए उद्यत हो तो भला पुत्र क्या करता है ? निश्चित होकर भोजन करने, स्त्री-पुत्र के साथ आमोद-प्रमोद करने के लिए बैठ जाता है या मां का उद्धार करने के लिए दौड़ पड़ता है।" स्वयं श्री अरविन्द ने आगे चलकर अपनी पत्नी को लिखे गए पत्र में अपने जीवन की रहस्यमयी बात खोली है—"यह भाव नया नहीं है। आजकल का नहीं है। इस भाव को लेकर ही मैंने जन्म ग्रहण किया है। यह भाव मेरी नस-नस में भरा है। भगवान् ने इसी महाव्रत को पूरा करने के लिए मुझे पृथ्वी पर भेजा है।"

जीवन का उद्देश्य चांदी के कुछ टुकड़ों पर बिक जाना नहीं हो सकता, यह श्री अरविन्द ने २१ वर्ष की उस अवस्था में भी भली प्रकार समझ लिया था। अतः आई० सी० एस० का परित्याग एक सुविचारित त्याग था। भौतिक वैभव और विलास-भरे मादक जीवन को एक धूल भरी ठोकर थी। राष्ट्रभक्ति के आदर्श के एक प्रकाश-स्तम्भ की स्थापना थी जिसके आलोक में सुभाषचन्द्र वसु जैसे भावी देशभक्त भारतीय अपनी जीविका (कैरियर) की चट्टान से जीवन-नौका को टकराने की भूल से बच सकें। स्वयं श्री अरविन्द के लिए यह एक महान् भविष्य के द्वार का उद्‌घाटन था। इतिहास की दिशा देने के लिए उनके कर्मयोगी जीवन का श्रीगणेश था। भारतमाता की पुकार का यह प्रत्युत्तर था। अपनी मातृभूमि के चरणों में श्री अरविन्द का यह भावनापूर्ण प्रथम उपहार था। योगी जीवन की तैयारी का यह प्रथम पग था।

(ख) भारत का स्पर्श होते ही

श्री अरविन्द का विद्यार्थी-जीवन समाप्त हो गया था। अतः जैसे ही बड़ौदा के महाराजा गायकवाड़ ने उन्हें अपनी रियासत की सेवा में नियुक्त कर लिया था वे फरवरी १८९३ में २१ वर्ष की अवस्था में इंग्लैंड छोड़कर भारत चले आए।

वे १४ वर्ष इंग्लैंड में रह चुके थे। इंग्लैण्ड की भाषा तथा यूरोपीय विचार व साहित्य में उनका मन रमा अवश्य था, पर इंग्लैण्ड की भूमि का उन्हें किंचित भी आकर्षण नहीं था। ईसाई मत के प्रति भी उन्हें अनुकूल भाव न था। अंग्रेज़ जाति के प्रति भी वे आदर नहीं रखते थे। तब वे भारत और भारतीय संस्कृति के विषय में एक उत्सुकता-भरे अन्तःकरण से युक्त भारत आए थे। इंग्लैंड से प्रस्थान के समय उन्होंने एक सन्तोष की ही सांस ली थी क्योंकि वहां उनके लिए आकर्षण का कोई कारण न था और दूसरी ओर भारतभूमि की पुकार उनके हृदय को प्रभावित कर रही थी।

श्री अरविन्द के कैम्ब्रिज में रहे दो सहपाठियों के वक्तव्यों से भी इस बात की पुष्टि होती है। आयरिश प्रोफेसर आर० एस० लेपर के अनुसार "उच्च चारित्र्य एवं साहित्यिक प्रतिभा में धनी अरविन्द में ईसाई मिशनरियों के प्रति एक समस्त

में आने योग्य अरुचि थी।" एक दूसरे अंग्रेज़ सहपाठी के अनुसार, "उनमें इंग्लैंड के प्रति किंचित भी प्रेम न था और उसके द्वारा इंग्लैंड को 'आधुनिक एथेंस' कहे जाने पर अरविंद ने फ्रांस को आधुनिक एथेंस कहा था और इंग्लैंड को व्यापारिक राज्य 'कोरिन्थ' के सदृश बताया था जो उनके लिए आकर्षणविहीन था।

उस समय तक अरविन्द का योग से परिचय भी न था। योग ही नहीं व्यावहारिक जीवन से भी वे परिचित न थे। तभी तो जेम्सकाटन के द्वारा महाराजा गायकवाड़ से परिचित होने पर वे केवल दो सौ रुपये मासिक पर बड़ौदा रियासत में एक अधिकारी बनने को सहर्ष तैयार हो गए। यह भी भाग्य का विनोद ही था कि प्रशासकीय जीवन से अरुचि रखने के कारण आई० सी० एस० को ठुकराने के बाद भी श्री अरविन्द को प्रशासकीय कार्य ही मिला। भारत के लिए प्रस्थान से पूर्व उनके पिता ने अलग से सर हैनरीकाटन की सहायता से उनके लिए कार्य की व्यवस्था कर दी थी। श्री अरविन्द की बड़ौदा में नियुक्ति का समाचार मिलने पर भी वे अपने पुत्र के आगमन की प्रतीक्षा उत्साहपूर्वक करते रहे। श्री अरविन्द ने 'कारथेज' नामक जहाज़ से यात्रा की और वह सकुशल भारत पहुंचे भी किन्तु उसके पूर्व ही डा० घोष इस गलत सूचना के शिकार हो गए कि श्री अरविन्द का जहाज़ पुर्तगाल के पास डूब गया है। यह सूचना उनके बैंकर 'मैसर्स ग्रिंडले एण्ड कम्पनी' ने तार द्वारा दी थी। एक जहाज़ अवश्य डूब गया था किन्तु श्री अरविन्द उसमें नहीं थे। डा० घोष को इतना बड़ा धक्का लगा कि उन्हें हृदय का दौरा पड़ा और वे अचेत हो गए। एक दो दिन में ही अरविन्द का नाम लेते-लेते उन्होंने प्राण छोड़ दिए। भाग्य की क्रूरता!

श्री अरविन्द ने भारत की धरती पर चरण रखे ही थे कि उन्हें अद्भुत शांति मिली और अनेक आध्यात्मिक अनुभव हुए। उदाहरणार्थ उनके चारों ओर छाया हुआ घोरतमस्-अंधकार दूर हो गया था। उन्हें अनुभव हुआ कि ब्रह्म सर्वव्यापी है। उन्होंने अनेक दिव्य धरातलों पर स्वयं को गतिशील होते भी देखा। श्री अरविंद ने इस अवस्था का स्वयं उल्लेख किया है। यह सब क्या था? नास्तिक या उसी प्रकार की शिक्षा व संस्कार प्राप्त व्यक्ति यह कह सकता है कि यह सब भ्रम था, दिवास्वप्न मात्र। परन्तु सत्य को भी यों झुठलाया नहीं जा सकता। श्री अरविन्द तब स्वयं ही नास्तिक-जैसे थे। उनके शब्दों में ही "मैं भी नास्तिकता भरे अस्वीकार के काल में से गुजरा हूं किंतु जब से मैंने स्वयं उन चीजों को देखा, मैं यूरोप की फैशन वाली व अविश्वास की संदेहवृत्ति को अपना ही नहीं सका।"

सत्य तो यह है कि भारतमाता की जिस आध्यात्मिक सत्ता का योगियों ने साक्षात्कार किया है, उसी ने अपने पुत्र को अत्यन्त प्रेम से अपनाते समय जो दिव्य स्पर्श किया था, उसी का परिणाम ये आध्यात्मिक अनुभव थे। ऐसे स्पर्शों का अनुभव अन्यों को भी हुआ है अतः उसे 'भ्रम' कहने वाले स्वयं भ्रमित हैं। आध्यात्मिक

अनुभूतियों की अपनी सत्ता है और भारतमाता का दिव्य स्पर्श पाने वाले निस्संदेह धन्य हैं।

अब तक श्री अरविन्द ने यूरोप के जीवन, साहित्य और संस्कृति का एक यूरोपीय के रूप में ही गंभीरता व निष्ठा के साथ अध्ययन किया था। अब उन्हें अवसर मिला था विश्व के अनुपम राष्ट्र भारत के जीवन, साहित्य और संस्कृति का एक भारतीय के रूप में गम्भीरता व निष्ठा के साथ अध्ययन करने का। विश्व का अनुपम राष्ट्र ? हां, अनुपम राष्ट्र क्योंकि भारत ही विश्व का सर्वाधिक प्राचीन राष्ट्र है जो सदैव से प्रकृति की आध्यात्मिक प्रयोगशाला रहा है, जहां पर परमात्मा से मैत्री करने वाले, उसका साक्षात्कार करने वाले महापुरुषों की अखण्ड मालिका प्राचीन काल से चली आ रही है। यहीं पर परमात्मा को प्राप्त करने की सभी विधियो को प्रयोगात्मक स्वीकृति मिलती है। यहीं पर जातियों का, समुदायों का, दर्शनों का, जीवन-पद्धतियों का, सभ्यताओं का, संस्कृतियों का विराट् संगम ही नहीं, समन्वय होता रहता है। यहीं पर ब्रह्म-विद्या केवल पुस्तकों में ही नहीं, साक्षात्कृत विद्या के रूप में मिलती है। आधुनिक युग की समस्याओं को समझने व हल करने के लिए विश्व के मनीषी इसी राष्ट्र की ओर उत्सुकता से देखा करते हैं। अतः श्री अरविन्द का भारत-आगमन एक महत्त्वपूर्ण घटना थी। श्री अरविन्द द्वारा आगे चलकर पूर्व और पश्चिम के, प्राचीन और आधुनिक के, योग और विज्ञान के मिलन के जो महत्त्वपूर्ण कार्य किए गए, उनके लिए यही प्रारम्भ-विन्दु था।

६. एक तपस्वी बड़ौदा में

"स्वभाव में शक्ति, मन में बुद्धि,
हृदय में प्रेम, पूरा करते हैं त्रिक—
भव्य मानवत्व का।"

—श्री अरविन्द कृत 'एरिक' (३/१) में

(क) प्रशासक

श्री अरविन्द बड़ौदा राज्य की सेवा में ८ फरवरी, १८९३ से १८ जून, १९०७ तक रहे। १३ वर्ष ५ मास १७ दिन की इस अवधि में उनके भावी राजनीतिक जीवन तथा उसके भी बाद के पांडिचेरी के योगी-जीवन की पृष्ठभूमि यहीं निर्मित हुई थी।

अपने प्रशासकीय जीवन में वे क्रमशः बड़ौदा राज्य में भूमि-व्यवस्था विभाग में, स्टाम्प्स कार्यालय, केन्द्रीय राजस्व कार्यालय तथा मंत्रालय में कार्य करते रहे। महाराजा सयाजीराव गायकवाड़ उनका बहुत आदर करते तथा अपने भाषणों को तैयार करने में उनका सहयोग लेते रहे हैं। प्रातःकाल जलपान पर महाराज उन्हें बुला लेते तो श्री अरविन्द उनका कुछ व्यक्तिगत कार्य भी निपटा लेते। भारत सरकार और बड़ौदा राज्य के मध्य होने वाले एक विशिष्ट पत्र-व्यवहार में श्री अरविन्द का बड़ा योगदान रहा था। इस पत्र-व्यवहार का कारण उल्लेख्य है। १९०० में वायसराय कर्ज़न के बड़ौदा-भ्रमण के अवसर पर पेरिस से महाराज को वापस बुलाने के लिए भारत सरकार ने आग्रह किया था। स्वाभिमानी व देश-भक्त महाराज ने उसे ठुकरा दिया था और इससे चिढ़कर कर्ज़न ने प्रतिक्रिया की थी।

श्री अरविन्द जैसे साहित्यिक को नीरस प्रशासकीय कार्य में क्या रुचि हो सकती थी! रिपोर्टें बनाना, देखना, यूरोप के रेलवे समयसारिणी देखना जैसे कार्यों में उनका मन लगता ही नहीं था। महाराज उनके कार्य करने की गति और उत्कृष्टता की प्रशंसा भी करते और कभी-कभी उन्हें अधिक परिश्रमपूर्वक व नियमिततापूर्वक कार्य करने की सलाह भी देते परन्तु श्री अरविन्द पर प्रभाव क्या

पड़ना था। महाराजा उन्हें व्यक्तिगत सचिव के रूप में अपनी कश्मीर-यात्रा में साथ ले गए परन्तु यह प्रयोग भी सफल नहीं रहा।

अन्ततः श्री अरविन्द की इच्छा के अनुरूप उन्हें प्रशासकीय कार्य करते हुए वड़ौदा कालिज में फ्रेंच पढ़ाने का कार्य मिल गया। और कुछ ही समय पश्चात् वे प्रशासकीय कार्य से मुक्त हो गए और वड़ौदा कालिज में प्राध्यापक-जीवन में पूर्णतया प्रतिष्ठित हो गए।

(ख) प्रशासक से प्राध्यापक

श्री अरविन्द को धीरे-धीरे वड़ौदा कालिज ने अपनी ओर खींच लिया। पहले १८९५ में उन्हें सप्ताह में ६ घण्टे फ्रेंच पढ़ाने का (बिना नियुक्ति के ही) अवसर मिला। इस समय वे प्रशासकीय कार्य करते रहे। १८९९ में प्रोफेसर लिटिल डेल के छुट्टी पर जाने पर वे फ्रेंच तो पढ़ाते ही रहे, अस्थायी रूप से अंग्रेज़ी के प्रोफेसर भी नियुक्त हो गए। १९०० में प्रिंसिपल टेट के अनुरोध पर महाराजा ने उन्हें स्थायी रूप से अंग्रेज़ी प्रोफेसर नियुक्त कर दिया। २९ सितंबर, १९०४ को वे वाइस प्रिंसिपल नियुक्त हो गए और वेतन ५५० रु० प्रतिमास हो गया। १९०५ में अप्रैल से सितम्बर तक उन्होंने स्थानापन्न प्रिंसिपल के रूप में कार्य किया। इस मध्य उन्हें १६० रु० प्रतिमास अतिरिक्त मिलता था। फरवरी १९०६ से श्री अरविन्द ने दो मास की 'प्रिविलेज लीव' ले ली और ग्रीष्मावकाश के पश्चात् १२ जून, १९०६ से ११ जून, १९०७ तक एक वर्ष का अवेतन अवकाश ले लिया। वस्तुतः अगस्त, १९०६ से ही वे नेशनल कालिज, कलकत्ता में प्रिंसिपल के रूप में कार्य करने लगे थे तथापि १८ जून, १९०७ तक वे वड़ौदा राज्य की सेवा में थे।

शिक्षक के रूप में वे अत्यधिक सफल रहे। वे विद्यार्थियों और प्राध्यापकों में लोकप्रिय थे। प्रसिद्धि से उन्हें संकोच रहता था पर कालिज में छात्रसंघ के तथा वाद-विवाद सभा के अध्यक्ष रूप में उन्होंने सफलतापूर्वक कार्य किया। प्रिंसिपल टेट उनकी योग्यता व परिश्रमशीलता पर मुग्ध थे। अपने वड़े भाई मनमोहन घोष से, जो प्रेसीडेंसी कालिज कलकत्ता में विद्वान् अंग्रेज़ी प्राध्यापक के रूप में अत्यधिक प्रसिद्ध हुए, पूर्णतया भिन्न विधि से पढ़ाया करते। मनमोहन घोष की विधि नोट्स तैयार करने आदि की थी किन्तु श्री अरविन्द तो विना तैयारी के पढ़ाया करते। वे आश्चर्य करते थे कि विद्यार्थी अपनी बुद्धि से कम ग्रहण क्यों करते हैं और रटने में अधिक विश्वास क्यों करते हैं—"मुझे आश्चर्यजनक तो यह लगता था कि विद्यार्थी हर वात अक्षरशः लिख लेते थे और रट लेते थे।" इंग्लैण्ड में ऐसा कभी नहीं होता था। विद्यार्थियों की एक और प्रवृत्ति भी उनके ध्यान में आई थी—"विद्यार्थी मेरे नोट्स तो लिख ही लेते थे, वम्बई के

किसी न किसी प्रोफेसर के नोट्स भी प्राप्त कर लिया करते, विशेषतः उनमें से यदि कोई परीक्षक होने वाला हो।" भारतीय विद्यार्थियों की ये प्रवृत्तियां तब से आज कितनी अधिक बढ़ गई हैं, यह सहज ही देखा जा सकता है।

वे मौलिकतापूर्ण शिक्षक थे, अतः पुस्तक के अन्त में दिए गए नोट्स भी वे न देखा करते। एक बार 'लाइफ़ आफ़ नेलसन' पढ़ाने पर छात्रों ने उनसे कहा कि नोट्स तो कुछ और कहते हैं और आप कुछ और, तो श्री अरविन्द ने कहा था "मैंने नोट्स नहीं पढ़े हैं—कुछ भी हों वे हैं बेकार।" प्रतिभाशाली प्राध्यापक का कितना सटीक उत्तर था।

श्री अरविन्द विद्यार्थियों को कालिज समय के अतिरिक्त पढ़ाने में अधिक विश्वास रखते थे। उन्हें ४५ मिनट की 'वेला' वहुत ही छोटी प्रतीत होती थी और इस कारण वे प्रायः घर पर छात्रों को अधिक समय देकर पढ़ाया करते। निस्संदेह यह उनमें क्रांतिकारी विचारों को भरने तथा आत्मीयता स्थापित करने की दृष्टि से भी उपयोगी रहा होगा। भाग्यशाली कहे जा सकते हैं वे विद्यार्थी जिन्होंने श्री अरविन्द से शिक्षा पाने का अवसर पाया था। ऐसे विद्यार्थियों में श्री पुराणी, श्री पाटकर आदि ने बाद में उनके सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा भी है जो श्री अरविन्द के व्यक्तित्व पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालता है।

(ग) पारिवारिक जीवन

श्री अरविन्द ने इंग्लैंड से लौटने के पश्चात् पहली बंग-यात्रा १८९४ में की। वहां माता स्वर्णलता, बहिन सरोजिनी, भाई बारीन, मामा योगेन्द्र तथा नाना राजनारायण वसु से भेंट हुई। माता तो मानसिक रोग के कारण उन्हें पहचान ही न सकीं। उनका कहना था—"मेरा अरविंद इतना बड़ा नहीं था, छोटा था।" बाद में उन्हें समझाया गया और अन्ततः अंगुली पर के एक निशान के प्रत्यभिज्ञान से मां ने पहचान ही लिया।

अब परिवार का मुख्य आधार श्री अरविन्द ही थे क्योंकि उनके दोनों बड़े भाई आर्थिक सहायता करने में समर्थ नहीं थे। कारण ? श्री अरविन्द के शब्दों में "दादा (विनयभूषण) कूचविहार राज्य की सेवा में हैं और इस कारण उन्हें उच्च जीवन-स्तर बनाए रखना पड़ता है। मनमोहन का विवाह हो गया है और विवाह तो है ही एक खर्चीला विलास।"

३० सितम्बर से ३१ दिसम्बर तक होने वाले कालिज के दूसरे अवकाश में विजयादशमी के अवसर पर परिवार के लोगों के साथ ही श्री अरविन्द भी देवघर में योगेन्द्र वसु (राजनारायण वसु के पुत्र) के पास जाते। श्री अरविन्द उन्हें परिहासपूर्वक 'ईसवगोल का पैगम्बर' कहते थे क्योंकि वह पेट के हर रोगी को ईसवगोल-सेवन की सलाह ही दिया करते। श्री अरविन्द संभवतः उन्हीं के परामर्श से

ईसवगोल का प्रयोग करने लगे थे।

श्री अरविन्द की चचेरी वहिन वासन्ती देवी (कृष्णकुमार मित्र की पुत्री) के अनुसार पूजा के अवसर पर श्री अरविन्द दो-तीन ट्रंकों के साथ बंगाल पहुंचते थे। सब लोग यह समझकर खोला करते कि इनमें सूट होंगे या विलास की सामग्री, पर उनमें तो केवल थोड़े से सामान्य वस्त्र होते और शेष सामग्री तो बस पुस्तकें और पुस्तकें और पुस्तकें! उनके लिए यह समस्या थी कि आरो दादा (श्री अरविन्द) छुट्टियों में, जब सब लोग मज़े मारेंगे, तब भी क्यों पढ़ेंगे? पर श्री अरविन्द पढ़ते भी और परिवार में हास-परिहास में भाग भी लेते। उनकी बुद्धिमत्ता की छाप भी सब पर पड़ती।

१८९९ में उनके नाना श्री राजनारायण वसु की मृत्यु हो गई। श्री अरविन्द उन्हें बहुत प्रेम करते थे। अपनी श्रद्धा व्यक्त करते हुए इस अवसर पर उन्होंने एक सॉनेट लिखा था।

१९०१ में २९ वर्षीय श्री अरविन्द की विवाह-वेला आई। उनकी पत्नी रांची के श्री भूपालचन्द्र वसु की पुत्री मृणालिनी तब केवल १४ वर्ष की थी। श्री अरविन्द से विदेशयात्रा का प्रायश्चित करने का आग्रह किया गया था किन्तु उन्होंने उसे दृढ़तापूर्वक ठुकरा दिया। अन्त में शास्त्रीय विधि से विवाह कराने वाले ब्राह्मण देवता भी मिल गए और हिन्दू विधि से समारोहपूर्वक विवाह हो गया। इस अवसर पर लार्ड सिनहा, सर जगदीशचन्द्र वसु और उनकी पत्नी आदि प्रसिद्ध महानुभाव उपस्थित थे। विवाह के पश्चात् श्री अरविन्द देवघर रहे और फिर मई में नैनीताल भी गए। नैनीताल उन्हें पसन्द आया था। हां, उनकी कल्पना की अपेक्षा यहां आधी भी ठंड न थी। बाद में कालिज खुलने पर श्री अरविन्द, सरोजिनी, मृणालिनी व वारीन वड़ौदा में भी कुछ समय साथ-साथ रहे।

श्री अरविन्द का दाम्पत्य जीवन सफल नहीं कहा जा सकता क्योंकि उनकी पत्नी को अपने पति श्रद्धेय तो लगते थे, किन्तु परिवार चलाने के लिए जिस आर्थिक एवं अन्य प्रकार की बुद्धि चाहिए, वैसी श्री अरविन्द में स्वप्न में भी संभव न थी और स्वयं मृणालिनी देवी भी जिस परिवार से आई थीं, उसमें उनकी मनोरचना श्री अरविन्द से भिन्न प्रकार की थी। श्री अरविन्द ने भी इस द्विविधाग्रस्त मन की कठिनाई को अनुभव किया था किन्तु जिस कठिन साधना-पथ को वे अपने लिए चुन चुके थे उसमें समझौते का अर्थ सर्वनाश होता था। अतः परिवार की यह गाड़ी यों ही चलती रही।

हां, वारीन्द्र को श्री अरविन्द ने कालान्तर में अपने क्रान्तिकारी पथ का पथिक बना दिया। दो भाइयों की ऐसी राम-लक्ष्मण-जैसी ध्येयनिष्ठ जोड़ी अवश्य ही मनोमुग्धकारी है। इतिहास में इसने युगान्तर उपस्थित किया, जैसा हम आगे देखेंगे।

(घ) साहित्यिक जीवन

श्री अरविन्द की ज्ञान की प्यास निरन्तर बढ़ रही थी। वोलचाल की वंगाली सीखने के लिए उन्होंने एक वंगाली श्री दिनेन्द्र कुमार राय को अपने सवेतन शिक्षक के रूप में १८९८ में नियुक्त कर लिया था और श्री राय उनसे फ्रेंच व जर्मन सीखा करते। यह अध्ययन भी नियम से वंधकर नहीं, मुक्त रूप से होता—कभी दिन भर, तो कभी कई दिन तक नहीं। श्री राय ने अपनी कृति 'श्री अरविन्द प्रसंगे' में वहुत कुछ महत्त्वपूर्ण वातें लिखी हैं। उन्होंने देखा था कि पुस्तकों पर पुस्तकें प्राय: प्रतिदिन ही अरविन्द के पास रेलवे पार्सल से आतीं। वम्वई की दो कम्पनियों 'मैसर्स थैकर स्पिक ऐण्ड कम्पनी' तथा 'मैसर्स राधाभाई आत्माराम सेगुण' की स्थायी रूपसे नई पुस्तक-सूचियां आती रहतीं और परिणामस्वरूप चुनी हुई पुस्तकों के आदेश जाते रहते। पुस्तकों की संख्या निरन्तर वढ़ती जाती। उनकी व्यक्तिगत पुस्तकों में अंग्रेज़ी, फ्रेंच, जर्मन, लैटिन, ग्रीक आदि की पुस्तकें रहती थीं।

संस्कृत का अभ्यास उन्होंने अच्छी तरह विना शिक्षक के अंग्रेज़ी की सहायता से चलाया तथा मराठी व गुजराती भी सीख ली। वंगला भाषा पर उनका अच्छा अधिकार हो गया। यह आश्चर्यजनक एवं सुखद सत्य है कि "श्री अरविन्द ने हिन्दी कभी नहीं पढ़ी परन्तु संस्कृत तथा अन्य भारतीय भाषाओं में अभिज्ञ होने के कारण उन्होंने हिन्दी विना किसी नियमित अध्ययन के ही आसानी से सीख ली और जव वे हिन्दी पुस्तकें या समाचार-पत्र पढ़ते तो उनको समझने में उन्हें कोई कठिनाई नहीं होती थी।"

इस वीच उन्होंने कुछ अंग्रेज़ी कविताएं लिखी थीं जो इंग्लैण्ड में लिखी कविताओं के साथ ही मित्रमण्डली में व्यक्तिगत उपयोगार्थ प्रकाशित करके वितरित की गई थीं। इसका नाम 'सांग्स टू मिर्टिला' रखा गया था। वड़ौदा में रहते हुए ही उन्होंने रामायण व महाभारत के कुछ अंशों, कालिदास की कुछ कृतियों, भर्तृहरि के 'नीतिशतक' तथा विद्यापति व चण्डीदास के कुछ पदों का अंग्रेज़ी में अनुवाद किया था। प्रसिद्ध वंगाली विद्वान् श्री रमेशचन्द्र दत्त ने एक वार वड़ौदा में उनके अनुवादों को लेकर कहा था—"यदि पहले ही मैंने ये अनुवाद देख लिए होते तो अपने अनुवाद प्रकाशित नहीं करवाए होते। मैं स्पष्ट कह रहा हूं कि आपके सुन्दर अनुवादों के समक्ष मेरे अनुवाद वच्चों के खेल जैसे लगते हैं।" इसी समय उन्होंने उपनिषद् व गीता का भी अध्ययन प्रारम्भ कर दिया था तथा भवभूति आदि की प्रसिद्ध कृतियों का भी अनुशीलन किया था।

(ङ) दिनचर्या तथा आध्यात्मिक प्रगति

श्री अरविन्द की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण राष्ट्रीय राजनीतिक गतिविधियों का

उल्लेख करने से पूर्व उनके बड़ौदा राज्य-सेवा के काल में दिनचर्या व आध्यात्मिक प्रगति की चर्चा समीचीन प्रतीत होती है यद्यपि राजनीतिक गतिविधियां प्रायः भारत आते ही प्रारम्भ हो गई थीं।

जैसा श्री अरविन्द के विषय में तत्कालीन प्रायः सभी सम्बन्धित व्यक्तियों ने कहा है, वे अत्यन्त मितभाषी थे। श्री दिनेन्द्रकुमार राय ने उनकी अनेक विशेषताओं को समीप से देखा था। उनके शब्दों में "श्री अरविन्द बहुत थोड़ा बोलते थे, संभवतः इसलिए कि उनका विश्वास था कि हर व्यक्ति को अपने विषय में कम से कम बोलना चाहिए।" "वे अपने विषय में नहीं बोलते थे, मानो जीवन में उनका एकमात्र उद्देश्य ज्ञानप्राप्ति ही हो।" तथा "वे कामनाविहीन, मितभाषी, भोजन में संयमित, आत्मसंयमी तथा हर समय अध्ययन करते रहने वाले थे।" वे रात्रि को देर तक पढ़ते रहते। आज बहुतों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि तब सिगार पीने का उन्हें इतना व्यसन था कि भोजन करते समय भी सिगार पास ही रखा रहता। तब उनकी प्रातःकालीन दिनचर्या क्या थी? प्रातः कुछ देर से सोकर उठना। नित्य-कर्म के पश्चात् चाय पीना। तब १० बजे तक कविता लिखना। १० के बाद स्नान करना। ११ बजे दोपहर का भोजन। तत्पश्चात् वे अन्य आवश्यक कार्यों में लग जाते।

श्री अरविन्द में धन के प्रति आसक्ति कभी नहीं रही। बड़ौदा में प्राध्यापकके रूप में रहते हुए भी यही बात देखी गई थी। उनके विद्यार्थी श्री आर० एन० पाटकर ने उनके विषय में लिखा है कि उन्हें तीन-तीन मास का एकत्रित वेतन मिला करता था परन्तु वे सम्पूर्ण धनराशि को मेज़ पर रखी एक ट्रे में उंडेल देते और उसे सुरक्षित रखने की तनिक भी चिंता न करते। एक दिन श्री पाटकर के पूछने पर उन्होंने हँस कर कह दिया था कि यह इस बात का प्रमाण है कि वे ईमानदार और अच्छे लोगों के बीचमें रह रहे हैं। यही नहीं, यह पूछे जाने पर कि वे लोगों की ईमानदारी परखने के लिए हिसाब क्यों नहीं रखते, उन्होंने गंभीरतापूर्वक कहा था—"मेरा हिसाब भगवान् रखतेहैं। वे मुझे उतना दे देते हैं जितने की मुझे आवश्यकता होती है और शेष वे अपने पास रख लेते हैं। जो भी हो, जब वे मुझे अभाव नहीं होने देते तो मैं चिन्ता क्यों करूं?" भगवान् पर यह विश्वास और धन की अनासक्ति उनके आध्यात्मिक विकास के मूल में महत्त्वपूर्ण समझी जानी चाहिए।

सादा जीवन, उच्च विचार की वे प्रतिमा थे। दिनेन्द्रकुमार राय ने 'श्री अरविन्द प्रसंगे' नामक बंगला कृति में लिखा है कि जब उन्हें श्री अरविन्द को बंगला पढ़ाने के लिए समीप पहुंचने का अवसर मिला तो वे यह देखकर चकित रह गए कि श्री अरविन्द राजदरबार भी सामान्य वेशभूषा में ही चले जाया करते। महंगे जूते, कमीजें, टाइयां, कालर, भिन्न-भिन्न प्रकार के कोट, हैट, टोपियां—इनमें से उन पर कुछ भी नहीं था। और जैसी वेशभूषा थी वैसी ही

सोने के लिए लोहे की एक खाट थी जो नारियल की रस्सियों से बुनी हुई थी और जिस पर शीतलपाटी बिछी रहती थी। कठिन जाड़े में भी वे रज़ाई का प्रयोग करते नहीं देखे गए। यह सब उनके ब्रह्मचारी जीवन की कल्पना के अनुरूप था। उन्होंने स्वयं श्री पाटकर की जिज्ञासा का समाधान करते हुए यह कहा भी था—"मैं ब्रह्मचारी हूं न। हमारे शास्त्र कहते हैं कि ब्रह्मचारी को कोमल शैया पर नहीं सोना चाहिए।" और ब्रह्मचारी जीवन के अनुरूप ही वे इस काल में ज्ञानार्जन भी कर रहे थे। श्री दिनेन्द्रकुमार राय के शब्दों में—"जब तक मैं उनके साथ रहा, मुझे तो वे एकान्तवासी, आत्मनिषेधक संन्यासी ही लगे, जो आत्म-संयम में कठोर और दूसरों की पीड़ा के लिए अत्यधिक संवेदनशील थे। उनके जीवन का उद्देश्य ज्ञानप्राप्ति मात्र प्रतीत होता था। और उस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वह व्यस्त सांसारिक जीवन के शोरगुल में भी कठोर आत्मविकास का अभ्यास कर रहे थे।

बहुतों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि श्री अरविन्द बड़ौदा में काफी समय ऐसे मकान में रहे थे जो टूटा-फूटा, पुराना और खपरैल का था। वहां वर्षा और गर्मी विशेष कष्टकर थे किन्तु भविष्य का महायोगी वहां द्वन्द्वों पर विजय प्राप्त किए रह रहा था।

१९०३ में श्री अरविन्द ने महाराजा गायकवाड़ के साथ कश्मीर-यात्रा की। उस समय 'तख्त-ए-सुलेमान' कही जाने वाली पहाड़ी पर जो वस्तुतः आद्य शंकराचार्य के मंदिर के नाम से पहले से प्रसिद्ध है, उन्हें अनन्त शून्य का प्रत्यक्ष अनुभव हुआ और इस अनुभव के परिणामस्वरूप ही उन्होंने बाद में 'अद्वैत' व 'दी हिलटाप टेम्पल' (पर्वत-शिखर का मंदिर) दो कविताएं लिखी थीं।

यह उनके पवित्र जीवन तथा सात्विक विकास के परिणामस्वरूप स्वतः होने वाला अनुभव ही कहा जाएगा क्योंकि श्री अरविन्द ने योग-साधना तो १९०४ से पहले प्रारम्भ ही नहीं की थी। ऐसे अनुभव और भी हो चुके थे। इंग्लैण्ड से लौटकर बम्बई की तटीय भूमि पर पैर रखते ही उन्होंने स्वयं को आवृत करता तामसिक अंधकार दूर होता देखा था। बाद में बड़ौदा में ही अपनी घोड़ागाड़ी की दुर्घटना को उन्होंने अपनी संकल्प शक्ति से रोक दिया था। श्री पुराणी के शब्दों में घटना इस प्रकार है—"एक बार श्री अरविन्द कैम्परोड से नगर की ओर अपनी गाड़ी में जा रहे थे। पब्लिक गार्डन्स के समीप एक दुर्घटना बाल-बाल बची। दुर्घटना की संभावना देखते ही उन्होंने देखा कि उसे रोकने के संकल्प के साथ ही उनमें एक ज्योति-पुरुष प्रकट हुआ जो मानो परिस्थिति का स्वामी था और सब कुछ नियंत्रित कर सकता था।" इसी घटना पर आधारित श्री अरविन्द की कविता 'दी गाडहैड' है।

नर्मदा-तट-वासी स्वामी ब्रह्मानन्द के एक शिष्य से, जो इंजीनियर थे, श्री

अरविन्द ने प्राणायाम के विषय में जानकारी प्राप्त की थी और फिर प्राणायाम का असाधारण अभ्यास प्रारम्भ किया। यह १९०४ की बात है। शीघ्र ही वे पांच-पांच घंटे तक प्राणायाम में लगाने लगे—तीन घंटे प्रातः काल और दो घंटे सायंकाल। इसका परिणाम अत्यन्त शुभ रहा। स्वयं श्री अरविन्द के शब्दों में—"मेरा अपना अनुभव यह है कि मस्तिष्क प्रकाशमय हो जाता है। जब मैं बड़ौदा में प्राणायाम का अभ्यासी था तब मैं प्रतिदिन पांच-छह घंटे प्राणायाम किया करता। मन अत्यन्त प्रकाश व शक्ति से कार्य किया करता था। उस समय मैं कविता लिखा करता था—मास में लगभग दो सौ पंक्तियां। प्राणायाम के पश्चात् मैं आधा घंटे में दो सौ पंक्तियां लिख सकता था।" यही नहीं, उनकी स्मरणशक्ति भी असाधारण रूप में बढ़ गई थी और मस्तिष्क में विद्युत-शक्ति छा जाने जैसा अनुभव भी उन्हें होता था।

१९३२ में अपने एक पत्र में उन्होंने लिखा था कि प्राणायाम के चार वर्ष के अनुभवों का परिणाम स्वास्थ्यवृद्धि, शक्तिवृद्धि, काव्यरचना तथा सूक्ष्म जगत के कुछ अनुभवों आदि के रूप में प्रकट हुआ था। उनके सूक्ष्म जगत के अनुभवों को उनके एक मित्र वैज्ञानिक ने पहले तो मात्र 'उत्तरबिम्ब' कहा था। किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं था क्योंकि वे तो कुछ सैकण्ड तक ही रह सकते हैं जबकि सूक्ष्म जगत के अनुभव तो दो-दो मिनट बने रहते थे।

इस मध्य श्री अरविन्द का योग के प्रति आकर्षण भी बढ़ता गया और उनके लेखन की गति भी बढ़ गई। किन्तु श्री अरविन्द की प्रतिभा ने एक नए क्षेत्र में भी बड़ौदा में रहते हुए ही छलांग लगाई थी और अब उसी का विचार करना उपयुक्त है।

७. नये दीपों का सन्देश

"क्या तुम मुझे बता सकते हो कि कांग्रेस जनता के लिए क्या कर रही है ? क्या तुम सोचते हो कि मात्र कुछ प्रस्तावों को पारित कर देने से स्वतंत्रता मिल जाएगी ? मुझे इसमें विश्वास नहीं है। जनता को जाग्रत करना होगा।..."

—स्वामी विवेकानन्द
(अश्विनीकुमार दत्त से हुई बातचीत में)

"अरविन्द के आगमन से पूर्व यह समीक्षा घुमा-फिराकर, दबे स्वर में तथा बुरी तरह छद्म शब्दों की आड़ में इस प्रकार अभिव्यक्त होती थी कि शासन के क्रोध और दण्ड-विधान से बचा जा सके। श्री अरविन्द के 'इन्दुप्रकाश' में लिखे गए लेखों ने एक नया परिवर्तन उत्पन्न किया और प्रचलित भय से भिन्न एक प्रत्यक्ष और मुखर आलोचना का श्रीगणेश हुआ जिसने सम्पूर्ण देश को एक नवीन प्रकार के भावोत्तेजन से ओतप्रोत कर दिया।"

—डा० कर्णसिंह 'प्राफेट आफ
इण्डियन नेशनलिज्म' में।

वस्तुत: श्री अरविन्द का राजनैतिक जीवन बड़ौदा में ही प्रारम्भ हो गया था। यद्यपि राज्य की सेवा में होने के कारण वे खुले रूप में राजनैतिक हलचलों में भाग नहीं ले सकते थे किन्तु हृदय की तड़प सदैव अपना मार्ग खोज निकाला करती है और ऐसा ही श्री अरविन्द के विषय में भी हुआ। ८ फरवरी, १८९३ को उन्होंने बड़ौदा में कार्य-भार संभाला था। ९ अगस्त, १८९३ से बम्बई के 'इन्दुप्रकाश' नामक पत्र में अंग्रेजी सम्पादक के अनुरोध पर उन्होंने 'न्यू लैम्प्स फार ओल्ड' (पुराने दीपों के स्थान पर नये दीप) नाम से लेखमाला प्रारम्भ कर दी। इस लेख-

माला में उनका नाम नहीं दिया गया था। इण्डियन नेशनल कांग्रेस की ग़लत नीतियों की तीक्ष्ण आलोचना से भरे इन अग्निवर्षी लेखों ने तहलका मचा दिया। दो लेखों के वाद ही श्री महादेव गोविन्द रानडे ने संपादक को इतने उग्र लेख न छापने की सलाह दी और परिणामस्वरूप सम्पादक ने श्री अरविन्द से कुछ कम उग्र लिखने की प्रार्थना की। श्री अरविन्द के उत्साह को धक्का लगा और फिर उन्होंने कुछ कम उत्साह से शेष ६ निवन्ध सक्रिय राजनीति से हटकर राजनीति दर्शन पर लिखे। अंतिम लेख ६ मार्च, १८९४ का था। इस लेखमाला के पश्चात् 'वंकिम चटर्जी' शीर्षक से उनके सात लेख भी अज्ञात नाम से १६ जुलाई से २७ अगस्त, १८९४ तक प्रकाशित हुए थे। श्री अरविन्द के महान् जीवनीकार श्री ए० वी० पुराणी के शब्दों में—"इस लेखमाला ने पहली बार जनता के समक्ष प्रस्तुत किया अनेक राजनीतिक प्रश्नों को तथा श्री अरविन्द की शक्तियों को—सव वातों की पकड़, चिंतन की सूक्ष्म शक्ति, अभिव्यक्ति की क्षमता तथा भाषा पर अधिकार, दुर्लभ साहस, परमनिष्ठा, ज्वलंत देशभक्ति और निस्वार्थ-चरित्र।"

यह स्वाभाविक उत्सुकता हो सकती है कि इन लेखों में क्या था जो उन्हें इतना भयंकर माना गया। इन लेखों में राजनीतिक क्षेत्र में कांग्रेस की ढिलमिल एवं शिथिल नीतियों का पर्दाफाश किया गया था। यह कांग्रेस की आलोचना तो थी ही, अंग्रेज़ों की भी आलोचना थी और देश के सामने उग्र राजनीति के मार्ग की प्रस्तावना भी।

अपने पहले लेख में ही उन्होंने लिखा था कि कांग्रेस की स्थापना वड़ी आशाएं देने वाली थी किन्तु अपने कार्यों से उसने उन आशाओं पर पानी फेर दिया है। "हमारे लिए निराशा की विशाल मरुभूमि में कांग्रेस ही आशा के शीतल जल की निर्मल पुष्करिणी थी। वह स्वतन्त्रता-संग्राम का अभियान-ध्वज थी। वह समन्वय का पावन प्रयागराज थी, जिसमें विभिन्न जाति-रूपी सरिताएं मिलकर एक रूप हो गई थीं। परन्तु ये सब 'आशा-सरिताएं' मृगतृष्णा मात्र सिद्ध हुईं।" दूसरे लेख (३१ अगस्त, १८९३) का एक अंश था—

"वे (व्रिटिश अफ़सर) अशिष्ट एवं धृष्ट हैं। उनका शासन दोषों से पूर्ण है। उनमें कोई उदात्त भावना है ही नहीं। उनका व्यवहार दासों पर आज्ञा देने वाले ज़मींदारों जैसा है। परन्तु इस सव में मुझे आपत्ति नहीं है। मुझे तो केवल यह कहना है कि वे बहुत ही साधारण मानव हैं जिन्हें अनुपम परिस्थितियां मिल गई हैं। वे सचमुच ही साधारण कोटि के मानव हैं—साधारण कोटि के मानव भी नहीं, साधारण कोटि के अंग्रेज़ हैं जो अंग्रेज़ी भाषा में कहें तो 'फिलिस्तीन' (विषयासक्त) हैं। वे ऐसे मध्यवर्गीय मानव हैं जो फिलिस्तीन वर्ग की विशेषताओं—संकुचित हृदय और वणिकवृत्ति से परिपूर्ण है।"

यही नहीं उन्होंने अंग्रेज़ों का अनुकरण करने वाले दास-मनोवृत्ति के वाबुओं

का भी मज़ाक उड़ाया था—"वही बाबू ऊंचे पद पर बैठकर कुछ क्षणों के लिए समझता है कि वह सम्पूर्ण पृथ्वी का शासक है। वही बाबू कांग्रेस में भाषण देता है। वही विधानसभा के प्रश्नोत्तरों में निहित घोर मूर्खता का परिहास करता है। वही महानगरपालिका को कुशासन का शिकार बनाकर हँसता है। आज के भारत में चाहे उसका स्थान हो पर भावी भारत में उसका कोई स्थान नहीं।"

उनके अनुसार तत्कालीन इंडियन नेशनल कांग्रेस 'नेशनल' (राष्ट्रीय) नहीं अपितु 'भारतीय अराष्ट्रीय कांग्रेस' थी क्योंकि न तो उसमें नेतृत्व की क्षमता थी और न राष्ट्रीय स्वाभिमान, और ब्रिटिशों की चापलूसी में भी उसे लज्जा का अनुभव नहीं होता था।

अपने तीसरे लेख (२८ अगस्त, १८९३) में उन्होंने लिखा था—"मुझे कांग्रेस के विषय में यह कहना है कि उसके उद्देश्य त्रुटिपूर्ण हैं, उनकी सिद्धि के लिए जिस भावना से वह कार्य करती है वह न निष्ठापूर्ण है और न पूर्णतया हार्दिक। उसने जो साधन अपनाए हैं वे उपयुक्त नहीं हैं। जिन नेताओं में कांग्रेस का विश्वास है, वे सुयोग्य नेता नहीं हैं—सारांश यह है कि हम इस समय 'अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः' (अन्धे के नेतृत्व में चलने वाले अन्धों के समान) न भी हों तो भी काने वाले के नेतृत्व में चलने वाले तो हैं ही।"

अपने चौथे लेख (७ अगस्त, १८९३) में उन्होंने लिखा था—"ब्रिटिश शासन की गरिमा के अनावश्यक गीत गाए गए हैं और उस विधाता का भी व्यर्थ गौरव-गान किया गया है जिसने हमको उदार और न्यायपरायण इंग्लैण्ड माता की गोद में नहीं, विमाता की गोद में सौंप दिया था। परन्तु इससे भी अधिक भयंकर बात यह है कि कांग्रेस की नस-नस में भीरुता है, वह कठोर सत्य के उद्‌घाटन से कतराती है, सीधी-सच्ची बात कहने में हिचकिचाती है और सदा भयभीत रहती है कि सरकार रुष्ट न हो जाए।"

इसी लेख में उन्होंने धीरे-धीरे राजनीतिक विकास करने के कांग्रेसी सिद्धान्त की भी बड़ी आलोचना की थी और बताया था कि फ्रांस, आयरलैण्ड आदि देशों ने इस मार्ग से सफलता प्राप्त नहीं की थी—"प्रगति की दिशा में भाग्यशाली देश फ्रांस की उन्नति का समारंभ शालीनता और शान्ति की प्रक्रिया से नहीं हुआ था। वह संस्कार तो रक्तपात और अग्निकाण्ड की सहायता से बलिदान-यज्ञ से हुआ था। शताब्दियों से सहानुभूति-रहित करोड़ों ज्ञानहीन सर्वहाराओं के लिए यह संभव हो सका कि केवल पांच वर्ष में तेरह सौ वर्षों के अत्याचारी शासन को उखाड़ फेंका। भद्र नागरिकों के सम्मेलन के वश का यह काम नहीं था।"

सातवें लेख (४ दिसम्बर, १८९३) में उन्होंने लिखा था—"वह एक मध्य-वर्गीय संगठन है जो सार्वजनिक कामों में निस्वार्थ और निश्छल नहीं है और जिसके व्यापक और निस्वार्थ देशप्रेम के दावे खोखले हैं।" इसी लेख में श्री अरविन्द ने

राष्ट्रीय आन्दोलन की दृष्टि से सर्वहारा वर्ग का महत्त्व अत्यन्त भव्यता से प्रतिपादित किया था—

"श्री फ़ीरोजशाह (सर फ़ीरोजशाह मेहता) ने अपनी सौम्य, संयत और सुसीमित देशभक्ति व सहज सहृदयता के अनुरूप हमको आश्वासन देना चाहा है कि अज्ञान और दुरवस्था में पड़े जनसाधारण को जगाने का प्रयत्न बिलकुल अनावश्यक है और उस दिशा में किसी भी प्रकार का शक्ति-व्यय पूर्णतया असामयिक है। परन्तु अब क्योंकि मध्यवर्गीय लोग सत्यनिष्ठा, शक्ति और निर्णय-क्षमता में असमर्थ सिद्ध हो चुके हैं अतः चाहें या न चाहें, हमारी आशाओं का एकमात्र आधार, हमारी आकांक्षाओं का भावी सम्बल वही अशिक्षित सर्वहारा वर्ग ही रह गया है। निरा सिद्धान्तवादी कहे जाने का जोखिम उठाकर भी मैं पूरी शक्ति से यह अवश्य कहूंगा कि हमारा सर्वोपरि और पावनतम कर्तव्य इसी वर्ग का उद्धार और प्रबोधन है।"

ग्यारहवें लेख (६ मार्च, १८९४) में भी यही स्वर सुनाई देता है—"इसके अतिरिक्त, जैसा मैंने समझाने का प्रयत्न किया है, सर्वहारा वर्ग के पास ही इस परिस्थिति की कुंजी है। वह निश्छल और निष्क्रिय है। उसमें कोई वास्तविक शक्ति नहीं प्रतीत होती परन्तु फिर भी उसमें छिपी शक्ति परम प्रबल है और जो भी उसकी इस शक्ति को समझने और उसका सदुपयोग करने में सफल होगा, वही वस्तुतः भविष्य का सर्वशक्तिमान नेता बनेगा। हमारी स्थिति निस्सन्देह जटिल और मानवीय बुद्धि के लिए कल्पनातीत है। परन्तु उसमें एक बात स्पष्ट है और वह यह कि अभिजात वर्ग के लिए सही और सफल नीति एक ही हो सकती है। और उसी के अन्त में सफल होने की संभावना है। वह नीति है—अभिजात वर्ग अपने हित को सर्वहारा वर्ग के न्यायपूर्ण व्यवस्थापन पर आधारित करे। उसको जागना होगा और देश की सम्पूर्ण शक्ति को संगठित करना होगा और इस तरह सामाजिक और राजनैतिक सर्वोच्चता प्राप्त करने की भी अपनी शक्ति और महत्ता को अनन्त में मिला देना होगा।"

श्री अरविन्द की दृष्टि अत्यन्त स्पष्ट थी। वे अंग्रेज़ों से भारत की पूर्ण मुक्ति चाहते थे और यह मुक्ति भी, अंग्रेज़ों की कृपा से नहीं, भारत की शक्ति के जागरण से। उन्होंने प्रायः सर्वत्र ही यह सिद्धान्त स्पष्ट रखा है—"हमारी वास्तविक शत्रु कोई बाह्य शक्ति नहीं है। वह तो हमारी ही निरी मूर्खता, कायरता, स्वार्थपरता, पाखण्डप्रियता और अंधी भावुकता है···हमको और हमारे उदात्त स्वाभिमानी राष्ट्र को, हमारे विषय में बनी ऐंग्लो-इण्डियन लोगों की धारणा की चिन्ता नहीं करनी चाहिए और न अंग्रेज़ों की न्यायबुद्धि से कुछ आशा करनी चाहिए। हमें तो अपना ही पौरुष जगाना होगा और भारत के मूक व पीड़ित जन-जन के प्रति साहचर्य की सच्ची भावना उत्पन्न करनी होगी। मुझे विश्वास है कि अन्त में

हमारा उदात्त रूप विजयी होगा, परन्तु यह तभी होगा जब हम स्वार्थपूर्ति की चिन्ता छोड़ देंगे, सच्चे और महान् देशप्रेम को अपना लेंगे। जब हम अंग्रेज़ों के फेंके हुए टुकड़ों के लिए तरसना छोड़ देंगे, तभी हम में उस पौरुष और सच्चे साहचर्य के भाव का प्रबल उदय होगा।"

'इन्दुप्रकाश' के अंग्रेज़ी खण्ड के सम्पादक श्री देशपाण्डे ने इन लेखों की परिचयात्मक टिप्पणी में कहा था—"हमें विश्वास है कि राजनीतिक प्रगति के लिए हमारे प्रयत्न चल रहे हैं पर उनमें दम नहीं है। हमारे राजनीतिक आंदोलन में पाखण्ड का पाप भरा है। अस्पष्ट दृष्टि फैशन हो गई है। आज तो सच्ची, यथार्थ, ईमानदार आलोचना की भारी आवश्यकता है। हमारी संस्थाओं का सुदृढ़ आधार ही नहीं है और उनका हर समय गिर पड़ने का भय है। इन परिस्थितियों में यह आलस्यपूर्ण ही नहीं, अपराधपूर्ण होगा कि हम चुप रहें जबकि राजनीतिक प्रगति में सारी शक्ति गलत दिशा में जा रही है। इस समय उपस्थित प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। यह राष्ट्र के निर्माण या विनाश का प्रश्न है। अतः हमने एक महान् साहित्यिक गुणों वाले, उदात्त संस्कार प्राप्त तथा पर्याप्त अनुभवी, लेखन कला में निपुण महानुभाव को भारी निजी असुविधा और सम्भवतः गलत समझे जाने की संभावना होते हुए भी, स्पष्ट स्वर में तथा अपनी विशिष्ट शैली व दिशा में, अपने विचार रखने का अनुरोध किया है। हम इस निमित्त अपने पाठकों के सर्वाधिक ध्यान तथा सतत अध्ययन की प्रार्थना करते हैं और उन्हें विश्वास दिलाते हैं कि इन लेखों में ऐसी सामग्री मिलेगी जो उन्हें विचारने में प्रवृत्त करेगी और उनकी देशभक्त आत्माओं को झकझोर देगी।" यह आश्वासन पूरा हुआ—सचमुच श्री अरविन्द ने पुराने दीपों के स्थान पर नए दीपों को रखने में ऐसा ही कौशल दिखाया था। उनके राजनीतिक जीवन का यह रहस्यमय प्रारम्भ था। किन्तु, अभी तो कितनी ही मंज़िलें पार करनी थीं।

८. क्रांति-योजना और भवानी मंदिर

"माता दुर्गे! सिंहवाहिनी, सर्वशक्तिदायिनी, माता शिव-प्रिये ! तेरे शक्त्यंश से उद्भूत हम भारत के युवकगण तेरे मंदिर में आसीन हैं, प्रार्थना करते हैं—सुन माता ! भारत में आविर्भूत हो, प्रकट हो।"

—श्री अरविन्द कृत 'दुर्गास्तोत्र' से

'इन्दुप्रकाश' में उग्र निवन्धों के लेखक श्री अरविन्द को श्री महादेव गोविन्द रानडे ने सरकार व कांग्रेस की तीखी आलोचना से विरत करने का प्रयत्न किया था और किसी रचनात्मक कार्य में लगने की सलाह भी दी थी, उदाहरणार्थ जेल-सुधार में। वस्तुतः रचनात्मक कार्य की कल्पना आगे चलकर महात्मा गांधी ने इसी विचार-परम्परा से ग्रहण की थी। परन्तु जहां राष्ट्र के जीवन-मरण का प्रश्न हो, परतन्त्रता में राष्ट्र की जीवन-शक्ति स्वाहा हो रही हो, वहां 'आराम के साथ देशभक्ति' करने वाला ही सुधारक वनने में सन्तोष अनुभव कर सकता है। फिर श्री अरविन्द जैसा राष्ट्रीयता का अग्रदूत युवक अपने कर्तृत्व और क्षमता को तथा देश की आवश्यकताओं को पहचानकर सम्पूर्ण शक्ति से जुटने के निश्चय से कैसे हट सकता था ? और इसीलिए श्री अरविन्द पर इस सलाह का क्या प्रभाव पड़ना था। कालान्तर में जब श्री अरविन्द ने जेल-यात्रा की तो उन्हें रानडे की सलाह का स्मरण हो आया और उन्होंने व्यंगपूर्वक लिखा था कि उन्होंने जेल जाकर जेल-सुधार आरम्भ कर दिया है।

श्री अरविन्द की एक दूसरी विशेषता थी—कीर्ति-पराङ्मुखता। जब श्री दिनेन्द्रकुमार राय ने उनसे वड़ोदा के सार्वजनिक जीवन में अधिक भाग लेकर यश-प्राप्ति करने से विमुख रहने का कारण पूछा था तो श्री अरविन्द का उत्तर यही था—"उसमें कोई आनन्द नहीं है।"

अवश्य ही श्री अरविन्द पर ११ सितम्बर, १८९३ को शिकागो के 'विश्व धर्म सम्मेलन' में जादू-भरा प्रभाव छोड़ने वाले स्वामी विवेकानन्द का भी गंभीर प्रभाव पड़ा था। २७ सितम्बर को धर्म सम्मेलन में अंतिम भाषण के पश्चात् उन्होंने

अमरीका और इंग्लैंड में भ्रमण कर हिन्दू धर्म का तेजस्वी स्वरूप प्रस्तुत किया था। यद्यपि वे ऊपर से एक वीतराग संन्यासी थे परन्तु मातृभूमि की दासता तथा पतितावस्था उनके अन्तःकरण को कचोट रही थी। उन्होंने अमरीका में दिग्विजय के क्षण में भी भारत माता को भुलाया नहीं था।

एक बार एक प्रश्न के उत्तर में उन्होंने कहा भी था—"पाश्चात्य देशों में आने के पूर्व मैं भारत को हृदय से प्रेम करता था, किन्तु अब मेरे लिए भारत की वायु, यहां तक कि भारत का प्रत्येक धूलिकण स्वर्ग से भी अधिक प्रिय है। भारत-भूमि पवित्र भूमि है। भारत मेरा पवित्र तीर्थ है।" और १५ जनवरी, १८९७ को भारत वापस आने पर सारा देश उनके स्वागत में उमड़ पड़ा। कोलम्बो से अल-मोड़ा तक उन्होंने यात्रा की, उपदेश दिए। अपने भावपूर्ण भाषणों एवं वार्तालाप में वे भारत-भक्ति का अखण्ड मन्त्र भी देते रहे—"आगामी ५० वर्षों के लिए सभी देवताओं को मन से निकाल देना पड़ेगा। हमारा एकमात्र जागृत देवता हमारा राष्ट्र है। इस विराट् की पूजा ही हमारी मुख्य पूजा होगी।" उन्होंने स्पष्ट कहा था—"प्रत्येक राष्ट्र का लक्ष्य विधाता के द्वारा पूर्व निर्धारित है। हमारे राष्ट्र का प्राण 'धर्म' है, इसकी आस्था धर्म है तथा इसका भाव धर्म है।" श्री अरविन्द का मन इस अद्भुत संन्यासी तथा उनके गुरुदेव स्वामी रामकृष्ण परम-हंस की धर्मसाधना से अत्यधिक प्रभावित होने के कारण उनके राजनीतिक जीवन व चिंतन में आध्यात्मिकता का रंग और भी गहरा मिलता है। पाश्चात्य चिंतन और भारतीय दर्शन तथा अतीत और वर्तमान के जिस स्वर्णिम समन्वय को स्वामी विवेकानन्द ने अपने तेजस्वी उपदेशों में व्यक्त किया था, श्री अरविन्द ने भविष्य में उसे और भी सुप्रतिष्ठित किया, सुप्रसारित किया। एक ही महान् संस्कृति के इन दो नन्दा-दीपों का तुलनात्मक अध्ययन अवश्य ही एक रोचक विषय हो सकता है।

श्री अरविन्द ने बड़ौदा में रहते हुए कांग्रेस के पुराने व टिमटिमाते हुए सुधार-वादी दीपकों के स्थान पर क्रांतिकारी युवकों के नए दीपकों से भारत को आलो-कित करने के लिए ठोस कार्य भी किया। राजनीतिक लेखन इस राष्ट्रीय योजना का जैसे एक प्रभावी अंग था वैसे ही सशस्त्र क्रांति के लिए गुप्त संगठन भी। श्री अरविन्द कांग्रेस को 'एक निरर्थक आवेदन और प्रतिवाद का तरीका' मानते थे और 'स्वावलम्बन, असहयोग तथा क्रांतिकारी आन्दोलन के लिए राष्ट्र की सभी शक्तियों के संगठन' को ही एकमात्र फलप्रद नीति मानते थे। सशस्त्र क्रांति में उनका पूर्ण विश्वास था। उनके प्रेरणा-स्रोतों में जान आफ़ आर्क तथा मैजिनी का नाम भी लिया जा सकता है। मध्ययुगीन फ्रांस के संघर्ष, अमरीका में स्वतन्त्रता-आन्दोलन, इटली की स्वतन्त्रता-प्राप्ति, आयरलैण्ड के स्वाधीनता-संघर्ष आदि का उन्होंने गम्भीर अध्ययन किया था। और वस्तुतः आध्यात्मिक शक्ति को भी वे राष्ट्र-सेवा के लिए ही प्राप्त करने में प्रयत्नशील थे।

१८९८ या १८९९ में श्री अरविन्द ने एक बंगाली युवक यतीन्द्र नाथ बनर्जी को बड़ौदा की सेना में सैनिक प्रशिक्षण प्राप्त करने के लिए प्रवेश दिला दिया। उन्होंने उसे इस बात की प्रेरणा दी कि वह बंगाल में होने वाले भावी क्रांतिकारी आन्दोलन में भाग ले। और इसीलिए प्रशिक्षित होने पर १९०९ में उसे कलकत्ता भेज दिया गया जहां उसने क्रांति के लिए उपयुक्त व्यक्तियों और सामग्री को एकत्र किया। ऐसे अन्य प्रयास भी बंगाल व महाराष्ट्र में चल रहे थे और उनमें एकसूत्रता लाना एक महत्त्वपूर्ण व आवश्यक कार्य था। बंगाल में श्री प्रेमनाथ मित्तर (पी० मित्तर के नाम से प्रसिद्ध) तथा कुमारी सरला घोषाल के ऐसे ही एक दल को तथा महाराष्ट्र में उदयपुर राज्य के एक सरदार ठाकुर रामसिंह के दल को श्री अरविन्द ने अपने साथ करने में सफलता भी पा ली। इस मध्य श्री अरविन्द अपने छोटे भाई बारीन (बारीन्द्र घोष) को क्रांतियोजना की ओर आकृष्ट कर रहे थे और उसमें उन्हें सफलता भी मिल गई जब बारीन घोष बड़ौदा आकर रहे। बारीन ने भी बंगाल जाकर क्रांति के संगठन-कार्य को तेज़ी से आगे बढ़ाया। उस समय तक वायुयान-शक्ति अधिक विकसित न होने के कारण, राइफल ही निर्णायक शस्त्र था। अतः भारत में ब्रिटिश सेना थोड़ी होने के कारण देशव्यापी विद्रोह के साथ क्रांतिकारी छापामार युद्ध के द्वारा लक्ष्य-प्राप्ति में सफल हो सकते हैं— यह श्री अरविन्द जानते थे। वे यह भी जानते थे कि ब्रिटिश स्वभाव ऐसा है कि यदि विद्रोह अधिक बढ़ जाए तो "इसके स्थान पर कि स्वतन्त्रता उनके हाथों से बलपूर्वक छीन ली जाए वे स्वयं दे देना पसन्द करेंगे।" और इसी-लिए श्री अरविन्द क्रांतिकारी संगठन को तेज़ी से बढ़ाने में युवकों को प्रवृत्त कर रहे थे। यतीन्द्रनाथ जिस प्रकार सुशिक्षितों (बैरिस्टरों, डाक्टरों आदि) को क्रांति-कारी बनाने में जुटे थे, वैसे ही बारीन कालिज विद्यार्थियों में सक्रिय थे। बारीन की कार्यपद्धति पर प्रकाश डालते हुए श्री लिज़ैल रेमण्ड ने अपनी कृति (द डेडि-केटेड'—भगिनी निवेदिता का जीवनचरित्र) में लिखा है—"बारीन्द्र का काम बंगाल के दुर्गम ग्रामों में जाकर जनता को जागृत करना और समितियां तथा युवक-संगठनों की स्थापना करना था। वह कोई भी बहाना बनाकर मिलते और समिति की बैठक कर लेते थे। उनका वास्तविक उद्देश्य था युवकों को नागरिक और राजनीतिक शिक्षा देकर 'राष्ट्र के मामलों' से परिचित कराना और उनके प्रति उन्हें सजग बनाना। स्पष्टवादी राष्ट्रीय नेता बाल गंगाधर तिलक के नेतृत्व में दक्षिण में इस तरह के युवक संगठनों की स्थापना पहले ही हो चुकी थी। छोटी-छोटी दम घोटने वाली अनाज की दुकानों में, घरों की छतों पर और ऐसे ही गुप्त स्थानों पर एकत्र होकर युवक बैठकें करते थे। बैठकों में मैज़िनी और गैरीबाल्डी की जीवनियां सुनाई जाती थीं, स्वामी विवेकानन्द के प्रबोधन पढ़े जाते थे, महा-भारत की वीरतापूर्ण घटनाओं की चर्चा होती थी और गीता की व्याख्या की

जाती थी। इन समितियों की संख्या दिन-प्रतिदिन बढ़ती गई।"

इन विभिन्न दलों में एकसूत्रता लाने के लिए श्री अरविन्द ने बड़ी कुशलता से काम किया। उन्होंने महाराष्ट्र के क्रांतिकारी दल की १६०१ में ही शपथ ग्रहण कर महाराष्ट्र व बंगाल में एकसूत्रता स्थापित करने में सफलता प्राप्त की। १६०२ की मिदनापुर यात्रा में उन्होंने अपने दोनों क्रांतिदूतों तथा पी० मित्तर आदि के साथ संगठन की विस्तृत योजना बनाई थी। उस समय स्वतन्त्रता की प्यास इतनी तीव्र थी कि कई सरकारी अधिकारी मजिस्ट्रेट तक इन क्रांतिकारी संगठनों के सक्रिय सदस्य बन गए थे। इस संगठन कार्य में व्यक्तिगत मतभेद उठना अस्वाभाविक न था। सैनिक शिक्षण प्राप्त करने के कारण यतीन्द्र का यह स्वभाव बन गया था कि वह दल के सदस्य युवकों से सैनिकों जैसा कठोर व्यवहार रखते। किन्तु बारीन को यह नीति पसन्द न थी। दोनों में मतभेद बढ़ गया। और तब नेतृत्व की समस्या सुलझाने के लिए श्री अरविन्द ने एक केन्द्रीय परिषद् गठित की जिसमें पांच सदस्य थे। इन पांच सदस्यों में एक 'भगिनी निवेदिता' भी थीं। अन्य सदस्य थे—सी० आर० दास, यतीन्द्र, सुरेन्द्रनाथ ठाकुर तथा पी० मित्तर।

यहां यह उल्लेख्य है कि श्री अरविन्द बड़ौदा-निवास के काल में भगिनी निवेदिता से परिचित हो चुके थे और भारतीय स्वातन्त्र्य के लिए उनके समर्पित जीवन से अत्यधिक प्रभावित थे। वे उनकी 'काली दी मदर' (कालीमाता) पुस्तक के बड़े प्रशंसक थे। वे स्वयं भी काली के उपासक थे और राष्ट्रहितार्थ संन्यासियों से काली-मंत्र प्राप्त कर चुके थे। भगिनी निवेदिता भी उनकी रहस्यमयी गतिविधियों से अपरिचित न थीं। २० अक्तूबर, १६०२ को निवेदिता के बड़ौदा जाने पर श्री अरविन्द उन्हें रेलवे स्टेशन पर लेने गए थे। स्टेशन पर ही निवेदिता ने कहा—"सुना है आप शक्ति के उपासक हैं।" श्री अरविन्द ने सरलता से कहा—"मेरा विश्वास है कि आप भी हैं।" दोनों क्रांतिकारी आत्माएं भारत की स्वाधीनता व बंगाल की स्थिति पर ३-४ दिन विचार-विमर्श करती रहीं। जब निवेदिता ने उनके बंगाल आकर रहने की आवश्यकता पर बल दिया, तो श्री अरविन्द का अर्थ-भरा उत्तर था—"···नहीं अभी नहीं। मैं पंक्ति के पीछे काम कर रहा हूं। अगली पंक्ति के लिए व्यक्ति चाहिए।···" निवेदिता ने सहयोग का पूर्ण आश्वासन दिया था। महाराज गायकवाड़ को भी निवेदिता ने क्रांतिकारी आन्दोलन में सहयोगी बनने का सुझाव दिया और उन्हें यह संकेत भी दिया कि श्री अरविन्द एक स्वातंत्र्य-सेनानी भी हैं। आगे चलकर भी निवेदिता व श्री अरविन्द का पारस्परिक सहयोग पूर्णतया बना रहा—श्री अरविन्द के पांडिचेरी जाने पर भी।

श्री अरविन्द बड़ौदा में रहते हुए भी बार-बार बंगाल आ-जाकर क्रान्ति-संगठन बनाते रहे। पी० मित्तर की कुशल कार्य-पद्धति से हज़ारों युवकों ने दल की

सदस्यता ग्रहण कर ली थी और वारीन के 'युगान्तर' नामक पत्र ने वंगाली समाज में क्रान्ति-भावना भर दी थी। उस समय श्री अरविन्द ने 'नो कम्प्रोमाइज़' (समझौता नहीं) शीर्षक से एक लेख लिखा था जिसे गुप्त रीति से छपाकर वांटा गया था। यह सव कार्य करते हुए श्री अरविन्द का सम्वन्ध केवल कुछ वहुत विश्वसनीय क्रान्तिकारियों से ही रहता था। गुप्त नेतृत्व का यह कार्य दोहरी आवश्यकता की पूर्ति कर रहा था।

१९०५ में एक विशेष पुस्तक लिखी गई थी जिसका रौलट कमेटी रिपोर्ट में 'भवानी मन्दिर' नाम से उल्लेख है। इस पर दो प्रभाव थे। प्रथम तो श्री वंकिमचन्द्र की अमर कृति 'आनन्दमठ' में देश के लिए सर्वस्व त्यागी तथा स्वतन्त्रता के लिए संकल्पवद्ध संन्यासियों का भव्य चरित्र तथा भारतमाता का दुर्गा रूप में चित्रण जो 'वन्दे मातरम्' गीत में अमर प्रेरणा का स्रोत वन गया था। द्वितीय, इसी काल में प्लेंचेट पर आत्माओं के प्रयोग में भगवती भवानी से प्राप्त सन्देश। इन दोनों को आधार वनाकर श्री अरविन्द ने भवानी मन्दिर नाम से एक पुस्तिका लिखी थी जिसके वितरण ने वंग-विभाजन के दिनों में अद्भुत उत्तेजना उत्पन्न की थी। इसमें भारत-शक्ति को जागृत करने का प्राणवान् संदेश है। इसमें राजनीतिक चेतना के लिए आध्यात्मिक अधिष्ठान और शारीरिक क्षमता निर्माण की योजना का समन्वय भी मिलता है। यहां पर उल्लेख्य है कि श्री अरविन्द ने नर्मदा-तट पर स्वतन्त्रता की तड़प लिये योगियों व संन्यासियों की कार्य-पद्धति से जो कुछ ग्रहण किया था, उसका भी इस योजना में प्रभाव है। श्री केशवमूर्ति ने श्री अरविन्द की जीवनी में यह लिखा भी है—"केशवनानन्द महाराज के ऐसे ही एक शिक्षालय में उन्होंने किशोरों व युवकों को प्रशिक्षण मिलता देखा था—एक अवकाश-प्राप्त हवलदार के मार्गदर्शन एवं निरीक्षण में शारीरिक व्यायाम, दलवन्दी के खेल, कुश्ती, संचलन, ड्रिल इत्यादि। नकली युद्ध लड़े जाते थे और चोट लगने पर न कोई झगड़ा करता था, न उफ।"

'भवानी मन्दिर' पुस्तिका में श्री अरविन्द की राष्ट्र-निर्माण-कल्पना अत्यन्त स्पष्ट रूप में मिलती है, अतः राष्ट्रभक्तों को आज भी उस पर विस्तार से विचार करना आवश्यक है। यद्यपि वातावरण व परिस्थितियां काफी वदल चुकी हैं। इस पुस्तिका में राष्ट्र को भक्ति, कर्म और ज्ञान की दृष्टि से भारत-माता के प्रति तन-मन-धन से भक्ति, राष्ट्रीय जागरण के लिए आवश्यक कर्म तथा उसके पीछे के आध्यात्मिक तत्त्वज्ञान को वड़ी स्वाभाविकता तथा भावुकतापूर्ण भाषा में प्रस्तुत किया गया है। मेरे देखने में अभी तक हिन्दी में इस पुस्तिका का कोई उत्तम अनुवाद नहीं आया, अतः हिन्दी पाठकों को श्री अरविन्द की लेखनी से निकले इन शब्दों की यथार्थ रचना से परिचित कराने के लिए सम्पूर्ण पुस्तिका को ही यहां प्रस्तुत कर दिया गया है—

भवानी मन्दिर
ओ३म्
नमश्चंडिकायै

पर्वतों के मध्य भवानी माता के लिए एक मन्दिर बनाना और समर्पित करना है। इस पवित्र कार्य में सहायता करने के लिए माता की सभी संतानों का आवाहन किया जा रहा है।

भवानी कौन है

कौन है भवानी माता और क्यों हम उसके लिए मन्दिर का निर्माण करें ?

भवानी अनन्त शक्ति है

जगत के अनन्त परिभ्रमणों में, शाश्वत भगवान् का चक्र अपने प्रवाह में बलपूर्वक घूमने पर, जो अनन्त शक्ति शाश्वत से निर्गत होती है और चक्र को कार्य-प्रवृत्त करती है, मानव-दृष्टि को विभिन्न आकारों तथा अनन्त रूपों में दिखाई देती है। प्रत्येक आकार एक-एक युग बनाता है और उसका वैशिष्ट्य होता है। कभी तो वह प्रेम होती है, कभी वह ज्ञान होती है, कभी त्याग, कभी करुणा। यह अनन्त शक्ति ही भवानी है, वह दुर्गा भी है, वही काली है, वही राधा प्यारी है, वही लक्ष्मी है, वही हमारी माता है और सृष्टि-निर्मात्री है।

भवानी शक्ति है

वर्तमान युग में, माता शक्तिमाता के रूप में प्रकट हुई है। वह शुद्ध शक्ति है।

सम्पूर्ण संसार शक्तिरूपिणी माता से आपूर्ण होता जा रहा है

हम अपने नेत्र उठाएं और अपने चारों ओर संसार पर दृष्टिपात करें। जहां भी दृष्टि डालें, हम देखते हैं शक्ति के विशाल पुंज, भयंकर तथा तीव्रगामी व अदम्य बल, शक्ति की भीम मूर्तियां, बल की भयंकर बाढ़ें। सब कुछ विशाल और सशक्त होता जा रहा है। इतिहास में पहले कभी के भी आलेखित की तुलना में युद्ध-शक्ति, धन-शक्ति, विज्ञान-शक्ति दस गुनी अधिक शक्तिशाली तथा विशाल हैं, सौ गुना अधिक भयंकर, तीव्रगामी तथा व्यस्त सक्रियता वाली हैं, साधनों तथा शस्त्रास्त्रों में हजार गुनी अधिक सम्पन्न हैं। सर्वत्र माता कार्य कर रही है, उसके शक्तिशाली तथा गढ़ने वाले हाथों से राक्षसों, असुरों, देवों के नाना रूप संसार के रणक्षेत्र में कूद रहे हैं। हमने पश्चिम में महान् साम्राज्यों का धीमा किन्तु शक्तिशाली उत्थान देखा है, हमने जापान को जीवन में क्षिप्र, अप्रतिरोध्य तथा प्रचण्ड छलांग लगाते हुए देखा है। कुछ म्लेच्छ शक्तियां हैं जो अपनी सामर्थ्य

से धुंधली हैं तथा तामसिक या राजसिक होने के कारण कृष्णवर्ण या रक्तवर्ण हैं; दूसरी आर्य शक्तियां हैं जो त्याग और घोर आत्मवलिदान की पवित्र ज्वाला में स्नात हैं, किन्तु वे सब अपने अभिनव रूप में वही माता हैं जो नए आकार गढ़ती और सृजन करती जा रही हैं। वह पुराने में अपनी आत्मा उंडेल रही हैं; वह नवीन को जन्म दे रही हैं।

शक्ति के अभाव के कारण भारत में हम प्रत्येक वस्तु में असफल होते हैं

किन्तु भारत में श्वास धीमा चल रहा है, उत्प्रेरणा आने में देर है। प्राचीन भारत माता नया जन्म लेने की चेष्टा कर रही है, पीड़ा और आंसुओं के साथ प्रयत्न कर रही है परन्तु उसका प्रयत्न विफल हो रहा है। परन्तु फिर इतनी विशाल और इतनी अधिक शक्तिशाली हो सकने वाली भारत माता को क्या दुःख है ? अवश्य ही कोई वड़ा दोष है, हममें किसी अत्यावश्यक तत्त्व की कमी है और उस दोष को पकड़ पाना भी कठिन नहीं है। हम पर अन्य सब वस्तुएं हैं किन्तु हम शक्तिहीन हैं, तेजहीन हैं। हमने शक्ति को त्याग दिया है और इस कारण शक्ति ने हमें त्याग दिया है। हमारे हृदयों में, हमारे मस्तिष्कों में, हमारी भुजाओं में, माता है ही नहीं।

नया जन्म लेने की इच्छा हममें वहुत है, इसमें कोई कमी नहीं है। कितने प्रयास हुए हैं, कितने आन्दोलन हुए हैं, धर्म में, समाज में, राजनीति में ! किन्तु सवका एक ही अन्त रहा है या होने वाला है। वे क्षण भर फलते-फूलते हैं, फिर प्रेरणा मन्द पड़ जाती है, अग्नि वुझ जाती है और यदि वे वच भी जाएं तो रिक्त सीपी जैसे, ऐसे रूप जिनमें से ब्रह्म निकल गया है अथवा जो तमस् से आवृत्त और निष्क्रिय है। हमारे प्रारंभ तो महान् होते हैं, किन्तु न उनका कोई परिणाम निकलता है, न फल।

अव हम दूसरी दिशा में प्रारंभ कर रहे हैं, हमने एक महान् औद्योगिक आन्दोलन प्रारंभ किया है जिसका उद्देश्य कंगाल देश को समृद्ध वनाना तथा नवजीवन देना है। अनुभव से कुछ न सीखे हुए, हम यह नहीं देख पाते कि यह आन्दोलन की दशा भी अन्य आन्दोलनों जैसी ही होगी जव तक हम एकमात्र अनिवार्य वस्तु को न खोज लें, जव तक हम शक्ति को प्राप्त न कर लें।

शक्ति के अभाव में हमारा ज्ञान मृत वस्तु है

क्या वह वस्तु ज्ञान है जिसका अभाव है ? एक ऐसे देश में, जहां ज्ञान का एकत्रीकरण और संचय तव से हो रहा है जवसे मानव जाति प्रारम्भ हुई, जन्मे और पोषित होने के कारण हम भारतीयों को सहस्रों वर्षों में प्राप्त उपलब्धियां उत्तराधिकार में मिली हैं। आज भी हममें महान् ज्ञानी उत्पन्न होते हैं जो उस भण्डार को वढ़ाते रहते हैं। हमारी क्षमता कम नहीं हुई है, हमारी वुद्धि की धार न

तो मन्द हुई है, न कुण्ठित, इसकी ग्रहणशीलता तथा लचक इतनी ही नानारूपात्मक है जितनी प्राचीन कालीन बुद्धि की थी। किन्तु यह है मृतज्ञान, एक भार, जिसके नीचे हम दवे जा रहे हैं, एक विप जो हमें नष्ट कर रहा है, जवकि यह ज्ञान होना चाहिए था हमारे पैर टिकाने वाली सहारे की लाठी और हमारे हाथों का शस्त्र, क्योंकि सभी महान् वस्तुओं की यही प्रकृति है कि जव वे उपयोग में न आएं अथवा उनका दुरुपयोग हो तो वे धारकपर ही उतरकर आक्रमण कर देती हैं और उसे नष्ट कर देती हैं।

तो हमारा ज्ञान तमस् के भारी वोझसे वोझिल, शक्तिहीनता तथा निष्क्रियता के शाप से ग्रस्त है। आजकल हम यह मान लेते हैं कि यदि हम विज्ञान (सायंस) सीख लें तो सब ठीक हो जाएगा। हमें स्वयं से पूछना चाहिए कि हमारे पास पहले से जो ज्ञान है उससे हमने क्या किया है अथवा जो विज्ञान (सायंस) सीख चुके हैं, उन्होंने भारत के लिए क्या किया है। अनुकरणशील तथा सूत्रपात के अयोग्य, हमने इंग्लैण्ड की पद्धतियों का अनुकरण करने का प्रयत्न किया है, और हममें शक्ति थी नहीं; अब हम और भी अधिक तेजस्वी जापानियों की पद्धतियों का अनुकरण करेंगे; क्या हम कुछ अधिक सफल होने वाले हैं ? यूरोपीय विज्ञान से प्राप्त ज्ञान का महान् वल दैत्य के हाथों के योग्य शस्त्र है, यहभीमसेन की गदा है; कोई दुर्वल व्यक्ति इससे क्या कर सकता है, अतिरिक्त इसके कि स्वयं को चकनाचूर कर ले ?

शक्ति के अभाव में हमारी भक्ति न तो जी सकती है, न कार्य कर सकती है

क्या वह वस्तु प्रेम, उत्साह, भक्ति है जिसका अभाव है ? ये तो भारतीय स्वभाव में गहरी हैं, किन्तु शक्ति के विना हम न तो एकाग्र हो सकते हैं, न दिशा दे सकते हैं, न इसे वनाए रख सकते हैं। भक्ति अग्नि है, शक्ति ईंधन है। यदि ईंधन कम हो तो अग्नि कव तक रह सकती है ?

जव ज्ञान से आलोकित तथा कर्म के द्वारा नियंत्रित और भीमशक्ति प्राप्त प्रवल स्वभाव परमात्मा के प्रति प्रेम एवं आराधना-भाव में उन्नत होता है, तव वही भक्ति टिक पाती है तथा आत्मा को परमात्मा से सतत सम्बद्ध वनाए रखती है। किन्तु दुर्वल स्वभाव तो इतना अशक्त है कि पूर्ण भक्ति जैसी शक्तिशाली वस्तु के आवेग को सहन कर ही नहीं सकता। वह क्षण-भर को उन्नत होता है, तव अग्निशिखा आकाश तक उठ जाती है, पीछे वह रह जाता है निःशक्त और पहले से भी अधिक दुर्वल। जव तक वह मानव-सामग्री जिसमें से यह उत्पन्न हो, दुर्वल है और अल्पशक्ति वाला है, तव तक प्रत्येक आन्दोलन जिसका प्राण उत्साह और श्रद्धा है अवश्य असफल और भस्म होता रहेगा।

अतः भारत को केवल शक्ति चाहिए

जितनी अधिक गहराई से हम देखेंगे, उतना ही अधिक विश्वास हमें इस बात में होगा कि अन्य सब वस्तुओं को पाने से पूर्व जिस एक को पाने के लिए हमें प्रयत्न करना चाहिए, जिस एक ही वस्तु की कमी है, वह है शक्ति—शारीरिक शक्ति, मानसिक शक्ति, नैतिक शक्ति, सर्वोपरि आध्यात्मिक शक्ति जो अन्य सब का एकमात्र अक्षय तथा अविनाशी स्रोत है। यदि हममें शक्ति है तो अन्य प्रत्येक वस्तु सरलतापूर्वक तथा स्वाभाविक रूप से हमारे पास आ जाएगी। शक्ति के अभाव में हम स्वप्न के मनुष्यों की तरह हैं जिनके हाथ होते हैं परन्तु वे न कुछ पकड़ सकते हैं, न मार सकते हैं, पैर होते हैं परन्तु दौड़ नहीं सकते।

वृद्ध और संकल्प शक्ति में जर्जर हो गए भारत को पुनर्जीवित होना है

हम जब भी कुछ करने का प्रयत्न करते हैं, उत्साह के प्रथम आवेग के समाप्त होते ही शक्तिहीन असहायता हमें जकड़ लेती है। हम प्रायः अनुभवी वयोवृद्धों में यह देखते हैं कि अपने ज्ञानाधिक्य के कारण ही मानो उनकी कर्मशक्ति तथा इच्छाशक्ति जड़ीभूत हो गई हैं। जब कोई बड़ी भावना या बड़ी आवश्यकता उन पर छा जाती है और उसकी प्रेरणाओं को कार्यान्वित करना आवश्यक होता है, तब वे हिचकते हैं, विचारते हैं, चर्चा करते हैं, संकोचपूर्ण प्रयत्न करते व छोड़ते हैं अथवा सबसे अधिक प्रत्यक्ष मार्ग ग्रहण करने के स्थान पर सबसे अधिक सुरक्षित और सुगमतम मार्ग मिलने की प्रतीक्षा करते हैं। और इस प्रकार वह समय बीत जाता है जब कार्य करना संभव तथा आवश्यक था। ऐसे ही वृद्ध व्यक्ति के समान हो गई है हमारी जाति जिसके पास ज्ञान के भण्डार हैं, अनुभव करने या इच्छा करने की क्षमता है किन्तु जराग्रस्त निस्तेजता, जराग्रस्त कायरता तथा जराग्रस्त दुर्बलता ने उसे शक्तिहीन कर दिया है। यदि भारत को जीवित रहना है तो उसे पुनः यौवन-सम्पन्न बनाना होगा। शक्ति की वेगपूर्ण तथा महातरंगायित धाराओं को उसमें उंडेलना होगा, उसकी आत्मा को प्राचीन काल के समान क्रिया या शक्ति का महासागर बनाना होगा, महान् लहरों के समान विशाल, सशक्त तथा स्वेच्छा-नुसार शान्त या अशान्त बनना होगा।

भारत पुनर्जीवित हो सकता है

हममें से बहुत से लोग जो जड़ता के अंधकारमय और भारी पिशाच तमस् में पूर्णतया डूबे हुए हैं, आजकल यह कह रहे हैं कि यह असंभव है कि भारत समाप्त हो चुका है, रक्तहीन है और प्राणहीन है, इतना दुर्बल है कि कभी भी ठीक नहीं होगा; कि हमारी जाति का विनाश निश्चित है। यह मूर्खतापूर्ण और

व्यर्थ की वात है। कोई भी मनुष्य या राष्ट्र तव तक दुर्वल नहीं होता जव तक वह स्वयं वैसा न चाहे, कोई भी मनुष्य या राष्ट्र तव तक नष्ट नहीं होता जव तक वह जान-वूझकर विनष्ट होना न चाहे।

राष्ट्र क्या है ? अपने करोड़ों व्यक्तियों की शक्ति

क्योंकि राष्ट्र क्या है ?हमारी मातृभूमि क्या है ? वह कोई भूमिखण्ड नहीं है, न कोई भाषागत अलंकार है और न मन की कपोलकल्पना। यह महान् शक्ति है, राष्ट्र को वनाने वाली करोड़ों इकाइयों की शक्तियों से निर्मित शक्ति ठीक वैसे ही जैसे करोड़ों देवों की शक्ति पुंजीभूत तथा एकरूप होने पर भवानी महिषमर्दिनी का अवतार हुआ था। वह शक्ति जिसे हम भारत कहते हैं अर्थात् भवानी भारती, तीस करोड़ लोगों की शक्तियों का जीवित पुंजीभूत रूप है। किन्तु वह निष्क्रिय है, अपने पुत्रों की आत्मसंतुष्ट जड़ता तथा अज्ञान के तामसिक मायाचक्र में वन्दी है, तमस् से मुक्त होने के लिए अन्तःस्थ व्रह्म को जगाना ही एक उपाय है।

यह हमारे ऊपर है कि हम राष्ट्र को पुनर्निर्मित करेंगे या नष्ट

इतने सहस्रों पवित्र लोगों, साधुओं और संन्यासियों ने अपने जीवनों के द्वारा चुपचाप क्या शिक्षा दी है ? भगवान् रामकृष्ण परमहंस के व्यक्तित्व से विकीर्ण सन्देश क्या था ? सिंहहृदय विवेकानन्द ने विश्व को जिस वाक्पटुता से हिला दिया उसका सार निर्माण करने वाली वस्तु क्या थी ? वह वात यह है, कि इन तीस करोड़ लोगों में से प्रत्येक में, सिंहासनासीन राजा से श्रम करते कुली तक में, अपनी संध्या में तल्लीन व्राह्मण से लेकर लोगों से घृणा पाते चाण्डाल तक में, भगवान् रहता है। हम सव लोग देवता हैं और सृष्टिकर्ता है, क्योंकि भगवान् की शक्ति हम वस्तु का में है और सव जीवन ही सृजन है; न केवल नए रूपों का निर्माण सृजन परिरक्षण भी सृजन है, विध्वंस भी सृजन है। यह हम पर निर्भर है कि हम किस है अपितु सृजन करें; क्योंकि हम लोग, जव तक स्वयं न चाहें, भाग्य और माया के हाथों की कठपुतली नहीं हैं, हम सर्वशक्तिमान् शक्ति के रूप तथा अभिव्यक्ति हैं।

भारत का पुनर्जन्म होना ही है क्योंकि उसका पुनर्जन्म विश्व के भविष्य की मांग है

भारत नष्ट नहीं हो सकता, हमारी जाति विलुप्त नहीं हो सकती, क्योंकि मानव जाति के सभी विभागोंमें से भारत के लिए ही उच्चतम और भव्यतम नियति निर्दिष्ट है, जो मानव जाति के भविष्य के लिए अनिवार्यतम है। भारत ही अपने में से सम्पूर्ण विश्व के भावी धर्म को प्रसारित करेगा, वह सनातन धर्म जो सभी धर्मों,

विज्ञान और दर्शनों का समन्वय करेगा तथा मानव जाति को एकात्म बनाएगा। इसी प्रकार नैतिकता के क्षेत्र में, उसका उद्देश्य है म्लेच्छत्व को मानवता से मिटाकर संसार को आर्य बनाना। ऐसा करने के लिए उसे पहले अपना आर्यकरण करना होगा।

इसी महान् कार्य को, जो किसी भी जाति को कभी भी सौंपे गए कार्यों में महत्तम तथा विलक्षणतम है, प्रारम्भ करने के लिए भगवान रामकृष्ण आए और विवेकानन्द ने उपदेश दिया। यदि कार्य की वैसी प्रगति नहीं हो रही है जैसा एक बार लगने लगा था कि होगी तो इसका कारण यह है कि हमने अपनी आत्माओं पर छा जाने दिया है तमस् के भयंकर मेघ को—भय, सन्देह, हिचकिचाहट तथा आलस्य को। हममें से कुछ ने उनमें से एक द्वारा प्रदत्त भक्ति को तथा दूसरे के द्वारा प्रदत्त ज्ञान को ले लिया है किन्तु शक्ति के अभाव में, कर्म के अभाव में, हम भक्ति को सजीव नहीं बना पाए। हमें अभी भी स्मरण है न, कि वह काली ही थी, भवानी ही थी, शक्तिमाता ही थी जिसकी आराधना रामकृष्ण ने की थी और जिससे वह एकरूप हो गए थे।

किन्तु भारत की नियति व्यक्तियों की लड़खड़ाहट तथा असफलताओं के कारण रुकी नहीं रहेगी; माता की मांग है कि लोग उसकी अर्चना की प्रतिष्ठा करने तथा उसे विश्वव्यापी बनाने के लिए उठ बैठें।

शक्ति पाने के लिए हम शक्ति माता की आराधना करें

अतः हमारी जाति की आवश्यकता है शक्ति, शक्ति और अधिक शक्ति। किन्तु यदि हम चाहें तो शक्ति, परन्तु शक्तिमाता की आराधना न करें तो वह कैसे प्राप्त होगी? वह अपने लिए आराधना नहीं मांगती है, अपितु इस निमित्त कि वह हमारी सहायता कर सके और स्वयं को हमें प्रदान कर सके। न तो यह कल्पनात्मक विचार है, न अंधविश्वास, अपितु यह है विश्व का एक सामान्य नियम। देवता बिना मांगे स्वयं को प्रदान नहीं कर सकते। शाश्वत भगवान् भी मनुष्यों पर अनजाने नहीं आता। प्रत्येक भक्त अनुभव से जानता है कि परमात्मा द्वारा अपने अनिर्वचनीय सौन्दर्य तथा आनन्द की आत्मा पर वर्षा करने से पूर्व यह आवश्यक है कि हम उसकी ओर अभिमुख हों और उसकी कल्पना व आराधना करें। जो परमात्मा के विषय में सत्य है, वह उस (भगवती शक्ति) के विषय में भी सत्य है जो परमात्मा से प्रकट होती है।

धर्म ही सच्चा मार्ग

पाश्चात्य विचारों से भरे जो लोग शक्ति के पुराने स्रोतों की ओर वापस जाने को सन्देहभरी दृष्टि से देखते हैं, कुछ मौलिक तथ्यों पर विचार करें।

जापान का उदाहरण

१. इतिहास में आश्चर्यजनक और अकस्मात् राष्ट्र-शक्ति उमड़ पड़ने का उदाहरण आधुनिक जापान से बढ़कर नहीं मिलेगा। उनके उत्थान का कारण बताने के लिए अनेक मत रखे गए किन्तु अब जापानी विद्वान् हमें बता रहे हैं कि उस महान् जागृति के स्रोत क्या थे, उस अक्षय शक्ति के उद्‌गम क्या थे। वे धर्म से ही प्रकटे थे। ओयोमी की वेदान्ती शिक्षाओं तथा मिकाडो की प्रतिभा और व्यक्तित्व में जापान की राष्ट्रीय शिक्षा की पूजा के साथ शिन्तो धर्म के पुनरुद्धार ने ही उस छोटे से दीप-साम्राज्य को इस योग्य बना दिया कि पाश्चात्य ज्ञान-विज्ञान के अति-विशाल शस्त्रों को इस प्रकार हल्के रूप में तथा अजेयतापूर्वक प्रयोग में ला सकें जैसे अर्जुन गांडीव को प्रयोग में लाते थे।

भारत में आध्यात्मिक पुनर्जागरण की आवश्यकता

२. धर्म के स्रोतों से ग्रहण करने की भारत की आवश्यकता जापान की रही आवश्यकता से कहीं बड़ी है; क्योंकि जापानियों को तो पहले से विद्यमान शक्ति को मात्र पुन: प्राणान्वित करना तथा पूर्ण करना था। हमें तो अविद्यमान शक्ति का सृजन करना है; हमें तो अपनी प्रकृतियों को बदलना है और नए हृदयों वाले नए मनुष्य बनना है, पुनर्जन्म पाना है। उसके लिए कोई वैज्ञानिक प्रक्रिया नहीं है, और न यन्त्रावली है। शक्ति-सृजन करने के लिए आत्मा के आन्तरिक और अक्षय स्रोतों से ही प्राप्ति करनी होगी, सनातन ब्रह्म की आद्याशक्ति से जो सभी नए जीवन का स्रोत है। पुनर्जन्म का अर्थ है अपने अन्दर ब्रह्म को पुन: जाग्रत करना और वह एक आध्यात्मिक प्रक्रिया है—शरीर या बुद्धि का कोई प्रयास यह सम्पादित नहीं कर सकता।

राष्ट्रीय मन के लिए स्वाभाविक मार्ग धर्म

३. भारत में सभी महान् जागृतियों ने, उसकी महत्तम तथा विविधतम शक्ति के कालखण्डों ने किसी गहरी धार्मिक जागृति से ही जीवन-शक्ति ग्रहण की है। जहां भी धार्मिक जागृति पूर्ण और भव्य हो गई, वहीं उससे स्रष्ट राष्ट्रीय शक्ति विशाल व समर्थ रही है; जहां भी धार्मिक आन्दोलन संकुचित या अधूरा रहा है, वहीं राष्ट्रीय आन्दोलन खंडित, अपूर्ण या अस्थायी रहा है। इस तथ्य का स्थायित्व इस बात का प्रमाण है कि यह हमारी जाति के स्वभाव में पक्की बात है। यदि तुम अन्य व विदेशी विधियां अपनाओगे तो या तो क्लान्तिकर धीमेपन से, कष्टपूर्वक तथा अपूर्णतापूर्वक उद्देश्य प्राप्ति होगी अथवा होगी ही नहीं। भगवान् और माता का दिया हुआ सीधा रास्ता छोड़कर स्पष्ट और टेढ़े-मेढ़े रास्ते क्यों अपनाए जाएं?

अन्तरात्मा ही शक्ति का सच्चा उद्गम

४. आध्यात्मिक शक्ति के एक और अखण्ड महासागर अन्तःस्थ ब्रह्म से ही सम्पूर्ण जीवन—शारीरिक व मानसिक—उद्भूत है। प्राचीन काल से पूर्व में इस बात को जितना स्वीकार किया जाता था, उतना ही अब प्रमुख पाश्चात्य चिन्तकों द्वारा स्वीकार किया जाने का प्रारम्भ हो रहा है, यदि ऐसा ही है, तब आध्यात्मिक शक्ति ही सभी अन्य बल का एकमात्र उद्गम है। वहीं अगाध स्रोत हैं, गहरे और अक्षय उद्गम हैं। उथले तलीय स्रोतों तक पहुंचना अधिक सरल है किन्तु वे शीघ्र सूख जाते हैं। तब तल को खुरचने की अपेक्षा गहराई में क्यों न जाएं? परिणाम से परिश्रम सार्थक हो जाएगा।

तीन आवश्यक वस्तुएं

तीन मौलिक नियमों के उत्तरस्वरूप हमें तीन वस्तुओं की आवश्यकता है।

१. भक्ति-मातृ-मन्दिर

शक्तिमाता की आराधना के बिना हमें शक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

अतः हम गौरी भवानी, शक्तिमाता, भारतमाता का एक मन्दिर बनाएंगे; और हम इसे आधुनिक नगरों के दूषण से दूर और निर्जन स्थान पर बनायेंगे जहां शान्ति और शक्ति में निमज्जित उच्च व शुद्ध वायु हो। यह मन्दिर वह केन्द्र होगा जहां से उस (भवानी) की उपासना सम्पूर्ण देश में फैलेगी; क्योंकि वहां पर्वतों में पूजित माता अपने उपासकों के मस्तिष्कों व हृदय में अग्नि-तुल्य फैल जाएगी। माता का भी यही आदेश है।

२. कर्म—ब्रह्मचारियों का एक नवीन संघ

आराधना मृत और अप्रभावी होगी यदि उसे कर्म में रूपान्तरित न किया जाए।

अतः मन्दिर से संलग्न कर्मयोगियों के एक नवीन संघ से युक्त एक मठ होगा, ऐसे लोगों का जिन्होंने माता के लिए कार्य करने के निमित्त सर्वस्व त्याग दिया है। कुछ लोग, स्वेच्छा से चाहें तो, पूरे संन्यासी भी हो सकते हैं, किन्तु अधिकांश तो ब्रह्मचारी होंगे जो सौंपे हुए कार्य को पूर्ण करने के पश्चात् गृहस्थाश्रम में चले जायेंगे, किन्तु त्याग सभी को स्वीकार करना होगा।

क्यों? इन कारणों से :

१. क्योंकि शारीरिक इच्छाओं और स्वार्थों, ऐन्द्रिक तुष्टियों, कामुकताओं,

लालसाओं, भौतिक जगत की अकर्मण्यताओं में अपनी तल्लीनता को हम जिस अनुपात में दूर कर सकेंगे, उसी अनुपात में हम अपने अन्दर की आध्यात्मिक शक्ति के सागर तक पहुंच सकेंगे।

२. क्योंकि शक्ति के निकास के लिए पूर्ण एकाग्रता आवश्यक है, जैसे भाला लक्ष्य पर फेंका जाता है वैसे ही मन को पूर्णतया अपने लक्ष्य पर लगना चाहिए; यदि अन्य चिन्तायें तथा लालसाएं मन का ध्यान भंग कर दें तो भाला अपने सीधे मार्ग से भटक जाएगा और लक्ष्य से चूक जाएगा। हमें मनुष्यों के ऐसे केन्द्र की आवश्यकता है जिनमें शक्ति का परम विकास हो, जिनमें यह व्यक्तित्व के कोने-कोने को भर दे तथा उमड़कर पृथ्वी को उर्वर कर दे। ये लोग, अपने हृदयों व मस्तिष्कों में भवानी की अग्नि लिए हुए, आगे बढ़ेंगे और हमारे देश के प्रत्येक कोने में, प्रत्येक दरार में यह ज्वाला पहुंचा देंगे।

३. ज्ञान—महान संदेश

भक्ति और कर्म तब तक पूर्ण व टिकाऊ नहीं हो सकते जब तक वे ज्ञान पर आधारित न हों।

अतः संघ के ब्रह्मचारियों को शिक्षा दी जाएगी कि वे अपनी आत्माओं को ज्ञान से भर लें और अपने कार्य को चट्टान सदृश इस पर आधारित करें। उनके ज्ञान का आधार क्या होगा? वेदान्त का महान् सूत्र 'सोऽहम्' ही, वह प्राचीन सिद्धान्त जो अभी भी राष्ट्र के हृदय तक पहुंचना है, वह ज्ञान जो कर्म और भक्ति से अनुप्राणित होने पर मनुष्य को सभी भय व सभी दुर्बलता से मुक्त कर देता है।

मातृ-सन्देश

अतः जब तुम पूछते हो कि भवानी माता कौन है, वह स्वयं उत्तर देती है, "मैं संसार में स्थित शाश्वत ब्रह्म और तुम्हारे अन्दर स्थित शाश्वत ब्रह्म से प्रवाहित अनन्त शक्ति हूं। मैं विश्व-जननी हूं, संसारों की माता हूं और तुम्हारे लिए जो आर्यभूमि की संतान हो, उसकी मिट्टी से बने हो और उसकी धूप व पवन में पालित-पोषित हो, मैं भवानी भारती हूं, भारत माता हूं।"

और यदि तुम यह पूछो कि भवानी माता का मन्दिर क्यों बनाएं, उसका उत्तर सुनो, "क्योंकि मैंने यह आदेश दिया है, और क्योंकि भावी धर्म का केन्द्र बनाने से तुम शाश्वत ब्रह्म की इस समय के संकल्प को पूर्ण करोगे तथा ऐसा पुण्य प्राप्त करोगे जिससे तुम इस जीवन में सशक्त और दूसरे जीवन में महान् बनोगे। इस प्रकार तुम एक राष्ट्र के निर्माण में, एक युग को संघटित करने में, एक संसार को आर्य बनाने में सहायता कर सकोगे। और वह राष्ट्र तुम्हारा अपना है, वह युग

तुम्हारा और तुम्हारी संतानों का है, वह विश्व समुद्रों और पर्वतों से घिरा कोई भूमिखण्ड मात्र नहीं है अपितु करोड़ों मनुष्यों से भरी सारी धरती है।"

अत: आओ, माता का आह्वान सुनो। वह पहले से ही हमारे हृदयों में अपनी अभिव्यक्ति की प्रतीक्षा कर रही है, उपासना की प्रतीक्षा कर रही है—निष्क्रिय है क्योंकि हमारे अन्दर का भगवान् तमस् से छिपा हुआ है, उस (माता) की निष्क्रियता से कष्टग्रस्त है, दु:खी है कि उस (माता) की संतानें अपनी सहायता के लिए उसे (माता को) पुकार नहीं रही हैं। तुम लोग जो माता की उत्तेजना अपने अन्दर अनुभव करते हो, 'स्व' पर पड़ा काला आवरण उतार फेंको, अकर्मण्यता की बन्दी बनाने वाली दीवारों को तोड़ दो, अपने को प्रेरित अनुभव करते हो तो तुम में से प्रत्येक माता की सहायता करे—अपने शरीरों से या अपनी बुद्धि से या अपनी वाणी से या अपनी सम्पत्ति से या अपनी प्रार्थनाओं से, और, प्रत्येक व्यक्ति अपनी सामर्थ्य के अनुसार उपासना करे। पीछे मत हटो, क्योंकि जिन्हें मां ने पुकारा और उन्होंने अनसुनी कर दी, उन पर मां आने पर अति क्रुद्ध हो सकती है। किन्तु, जो उसके आगमन में थोड़ी-भी सहायता करते हैं, उनके प्रति उनकी माता का मुखमण्डल सौन्दर्य और कृपा से कैसा प्रदीप्त हो उठेगा !

परिशिष्ट

नए संन्यासी-संघ का कार्य और नियम कुछ इस प्रकार होंगे :

१. सामान्य नियम

१. माता के लिए ब्रह्मचर्य-जीवन स्वीकार करने वालों को उसकी सेवा के लिए चार वर्षों का व्रत लेना होगा, जिसके उपरान्त वे काम करते रहना चाहें तो कर सकते हैं, अथवा वापस पारिवारिक जीवन में जाना चाहें तो जा सकते हैं।

२. उनके द्वारा माता के नाम पर प्राप्त धन माता की सेवा में लगेगा। उनके लिए तो मात्र आश्रय व भोजन, जब आवश्यक हो, पाने की अनुमति होगी।

३. जो कुछ धन वे स्वयं अर्जित करें, उदाहरणार्थ पुस्तक-प्रकाशन इत्यादि के द्वारा, उसका कम से कम आधा वे मातृसेवार्थ देंगे।

४. वे अपने धार्मिक जीवन भर कार्य से सम्बन्धित सभी बातों में संघ के प्रमुख तथा उसके एक या दो सहायकों के प्रति पूर्ण आज्ञापालक होंगे।

५. संघ के प्रमुखों के द्वारा निर्दिष्ट अनुशासन और आचार तथा शारीरिक व मानसिक पवित्रता के नियमों का वे कठोर पालन करेंगे।

६. उन्हें विश्राम के या धार्मिक विकास के लिए कुछ कालखण्ड मिला करेंगे जिनमें वे मठ में ठहरेंगे किन्तु वर्ष का अधिकांश भाग वे बाहर के कार्य में व्यतीत करेंगे।

मन्दिर की सेवा के लिए आवश्यक थोड़े से लोगों तथा कार्य के केन्द्रीय मार्ग-दर्शन के लिए आवश्यक लोगों के अतिरिक्त सभी पर यह नियम लागू होगा।

७. कार्यकर्ताओं में पद-भेद नहीं होगा और कोई भी व्यक्ति प्रतिष्ठा या मात्र व्यक्तिगत यश की प्राप्ति के लिए कार्य नहीं करेगा अपितु शक्ति-साधना व अनात्मशंसा-साधना करेगा।

२. जनता के लिए कार्य

८. उनका मुख्य कार्य जनशिक्षण तथा निर्धनों व अज्ञानियों की सहायता करना होगा।

९. यह कार्य वे अनेक विधियों से करेंगे :

१. अशिक्षित वुद्धि के लिए उपयुक्त व्याख्यान व प्रदर्शन।
२. कक्षाएं व रात्रिपाठशालाएं।
३. धार्मिक शिक्षण।
४. रोगियों की सेवा।
५. परोपकारार्थ कार्यों को चलाना।
६. कोई भी अन्य उत्तम कार्य जो उनके हाथों को मिले तथा संघ से स्वीकृत हो।

३. मध्यम वर्ग के लिए कार्य

१०. निर्देशानुसार वे वड़े नगरों में तथा अन्यत्र जनोपयोगी विभिन्न कार्य करेंगे विशेषतः मध्यवर्गों की शिक्षा, धार्मिक जीवन व शिक्षा तथा अन्य लोक-आवश्यकता से संवंधित कार्य।

४. धनी वर्गों के साथ कार्य

११. वे ज़मींदारों, मकानदारों तथा धनियों से प्रायः मिलेंगे और प्रयत्न करेंगे—

१. ज़मींदारों व कृपकों में परस्पर सहानुभूति वढ़ाने व सभी झगड़े समाप्त कराने के लिए।
२. सभी वर्गों में एक ही और सजीव धार्मिक भावना और एक महान् उद्देश्य के लिए सम्मिलित अनुराग की कड़ी वनाने के लिए।
३. पुरस्कार तथा सरकारी प्रतिष्ठा की आशा के विना अपने आसपास के लोक कल्याण व परोपकार के कार्यों की ओर धनियों के मनों को उन्मुख करने के लिए।

५. देश के लिए सामान्य कार्य

१२. जैसे ही पर्याप्त धन हो जाएगा, कुछ को विदेशों में लाभप्रद कलाओं के व निर्माण-कार्य के अध्ययन के लिए भेजा जाएगा।

१३. अध्ययन-काल में वे संन्यासी होंगे, अपनी शुद्धता के स्वभावों व तपस्या को किंचित भी न त्यागते हुए।

१४. वापसी पर वे संघ की सहायता से उद्योगशालाएं व कारखाने स्थापित करेंगे और तब भी संन्यासी का जीवन बिताएंगे और अपने-अपने लाभ को अधिकाधिक मात्रा में ऐसे ही विद्यार्थियों को विदेशों को भेजने में लगाएंगे।

१५. अन्यों को विभिन्न देशों में अपने-अपने जीवन, व्यवहार और वार्तालाप से यूरोपीय राष्ट्रों में भारतीयों के प्रति सहानुभूति और प्रेम जगाने के लिए और आर्य आदर्शों को उनके द्वारा स्वीकृत कराने के लिए मार्ग तैयार करने के लिए भेजा जाएगा।

मन्दिर-निर्माण व प्रतिष्ठा के पश्चात् संघ के कार्य के विकास को जितनी संभव हो उतनी तेज़ी से या जनता के सहयोग और सहानुभूति के अनुसार बढ़ाया जाएगा। माता के आशीर्वाद से यह कार्य सफल होगा।

यहां यह उल्लेखनीय है कि 'भवानी-मन्दिर-योजना' में श्री अरविन्द के अनुज श्री वारीन्द्र का ही विचार अधिक था, ऐसा स्वयं श्री अरविन्द ने भी स्वीकार किया है। उन्होंने यह भी स्वीकारा है कि वारीन्द्र ने ही मानिकतल्ला बाजार में इस प्रकार की योजना को कार्यान्वित करने के लिए कुछ किया भी था और यद्यपि "श्री अरविन्द ने भवानी-मन्दिर-योजना को त्यागने का कोई विधिपूर्वक निश्चय नहीं किया था…भवानी-मन्दिर का विचार स्वयमेव नष्ट हो गया।"

(अपने तथा श्री माता जी के विषय में, पृष्ठ ४६ ४७)

स्पष्ट ही भावुकता से बनायी गयी यह योजना आवश्यकता से अधिक समय तथा जोखिम वाली थी, अतः अधिक ठोस व द्रुत योजनाओं के लिए उसका छोड़ा जाना आश्चर्यजनक नहीं कहा जा सकता किन्तु उसमें निहित मूल बातें आज भी महत्त्व की हैं। श्री चारुचन्द्र दत्त सदृश आई०सी० एस० अधिकारियों को भवानी-मन्दिर-योजना ने ही आकृष्ट किया था। अतः उसका अपना योगदान तो रहा ही। और श्री अरविन्द के मन व मस्तिष्क तथा राष्ट्रीयता के तत्त्वज्ञान व राष्ट्रीय-जागरण की तत्कालीन कार्यपद्धति को समझने में भी उसका महत्त्व है ही। भारत-भवानी के विचार व भाव ही 'युगान्तर' के अग्निवर्षी लेखों में आगे चलकर प्रकट हुए, कलकत्ता की स्पेशल ब्रांच के पुलिस सुपरिंटेंडेंट 'डेनहम' ने यह ठीक ही कहा था।

९. एक ऐतिहासिक पत्र

"तुम मिले अरविन्द घोप से ? देखे उनके नेत्र ? उनमें आध्यात्मिक अग्नि और ज्योति है। वे पार तक वेध जाते हैं। यदि जॉन आफ आर्क स्वर्गीय स्वर सुनती थी तो अरविन्द संभवत: स्वर्गीय दृश्य देखते हैं।"

—वड़ौदा कालिज के प्रिंसिपल
श्री ए०की० क्लार्क के शब्द
डॉ० सी० आर० रेड्डी से
जो श्री अरविन्द के स्थान
पर उप-प्राचार्य बने थे।

'मेरे तीन पागलपन हैं……।'

—श्री अरविन्द,
(पत्नी को पत्र में)

श्री अरविन्द के जीवन में प्रेम का वड़ा ऊंचा स्थान था। किन्तु राष्ट्रभक्त के लिए राष्ट्रप्रेम के अतिरिक्त और किसी प्रेम को स्थान ही कहां है ! इसके उत्कृष्ट उदाहरण हैं उनके द्वारा अपनी पत्नी मृणालिनी देवी को लिखे गए तीन पत्र (३० अगस्त, १९०५; १७ फरवरी, १९०७; तथा ६ दिसम्बर, १९०७)। इन्हें पुलिस ने आगे चलकर 'अलीपुर काण्ड' में उनके ऊपर अभियोग में प्रमाण रूप से प्रस्तुत किया था। श्री अरविन्द के वे 'गुप्त' दस्तावेज आज राष्ट्र की धरोहर वन गए हैं। उनके इन तीन पत्रों में से प्रथम नित्यनूतनता से युक्त और सचमुच दिव्य है। इसमें श्री अरविन्द की सहर्ष स्वीकृत निर्धनता, राष्ट्रभक्ति की अनन्यता, भावुकता, ध्येय की वेदी पर पूर्ण समर्पण की भावना, अपने जीवन के तीन स्वप्न, हिन्दू धर्म के प्रति उनकी प्रयोगात्मक दृष्टि और उससे उत्पन्न तीव्र श्रद्धा तथा अदम्य संकल्प-शक्ति का परिचय मिलता है। इससे प्रकट होता है कि श्री अरविन्द हृदय में वैसे ही थे, जैसे ऊपर थे। यही नहीं, इस पत्र में राजनीतिक जीवन की व्यस्तता में भी अरविन्द का सही स्वरूप झलक रहा है—परमात्मा के साधन मात्र, अहंकार-शून्य, समर्पित अरविन्द।

इस बंगला पत्र से ज्ञात होता है कि श्री अरविन्द पत्नी को केवल बीस रुपए प्रतिमास तक ही भेज पाते थे। यह भी ज्ञात होता है कि मृणालिनी देवी के मन में वैवाहिक जीवन की जो सुखभरी कल्पनाएं थीं, उन पर श्री अरविन्द ने पानी फेर दिया था। श्री अरविन्द अपनी विचित्रता को स्वीकार करते हैं—"इस देश में आजकल के लोगों का जैसा मनोभाव है, उनके जीवन का जैसा उद्देश्य है, कर्म का जैसा क्षेत्र है, ठीक वैसा ही मेरा नहीं है; सब कुछ ही भिन्न है, असाधारण है।"

श्री अरविन्द जानते हैं कि "आज भारत में ही नहीं, विश्व में सर्वत्र असाधारण मत या प्रयास या आशा रखने वाले व्यक्ति को सामान्य मनुष्य प्रारम्भ में 'पागल' कहता है और सफलता मिल जाने पर उसी को 'प्रतिभावान् महापुरुष' कहते हैं। किन्तु हिन्दू धर्म के प्रणेताओं ने इस बात को समझा था, वे असामान्य चरित्र, प्रयास और आशा को बड़े आदर की दृष्टि से देखते थे…"

श्री अरविन्द पत्नी से प्रश्न करते हैं कि अपनी असाधारणता के कारण 'पागल' कहे जाने वाले अपने पति को वे भी 'पागल' कहेंगी या उसका अनुसरण करेंगी। उन्हें विश्वास है कि वे अपने पति का अनुसरण करेंगी—"हज़ार ब्राह्म स्कूल में तुम क्यों न पढ़ी हो, आखिर हो तुम हिन्दू घर की ही लड़की, हिन्दू पूर्वपुरुषों का रक्त तुम्हारे शरीर में है, मुझे सन्देह नहीं कि तुम शेषोक्त पथ का ही अनुसरण करोगी।"

श्री अरविन्द की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण पंक्तियां वे हैं जिनमें वे अपने तीन लक्ष्यों को तीन 'पागलपन' कहकर व्यक्त करते हैं। पहला पागलपन अपरिग्रह से सम्बन्धित है—"पहला पागलपन यह है कि मेरा दृढ़ विश्वास है कि भगवान् ने जो गुण, प्रतिभा, उच्च शिक्षा व विद्या तथा धन दिया है, यह सब भगवान् का है; जो कुछ परिवार के भरण-पोषण में लगता है और जो नितान्त आवश्यक है, उसी को अपने लिए व्यय करने का अधिकार है, उसके पश्चात् जो कुछ शेष रह जाता है, उसे भगवान् को लौटा देना उचित है।" श्री अरविन्द को पश्चाताप है कि "आज तक मैं भगवान् को दो आना दे, चौदह आना अपने सुख में व्यय कर, हिसाब पूरा कर, सांसारिक सुख में मत्त था। जीवन का अर्द्धांश वृथा ही गया, पशु भी अपना और अपने परिवार का उदर भरकर कृतार्थ होता है।" ये पंक्तियां कितनी भावपूर्ण, कितनी हृदयस्पर्शिनी तथा आन्तरिक शुद्धता की कैसी सीधी परिचायक हैं!

किन्तु मनुष्य भगवान् को धन देना भी चाहे तो कहां दे? "भगवान् को देने का अर्थ क्या है? अर्थ है धर्मकार्य में व्यय करना……परोपकार करना धर्म है, आश्रित की रक्षा करना महाधर्म है, किन्तु केवल भाई-बहन को देने से ही हिसाब नहीं चुक जाता।" तब परिवार की यह सीमा बढ़कर देश हो जाती है—"इस दुर्दिन में समस्त देश मेरे द्वार पर आश्रित है, मेरे तीस कोटि भाई-बहन इस देश में हैं, उनमें से बहुतेरे अनाहार से मर रहे हैं, अधिकांश कष्ट और दुःख से जर्जरित

होकर किसी प्रकार बचे हुए हैं, उनका हित करना होगा।" यही है पवित्र आध्यात्मिक दृष्टि का व्यावहारिक स्वरूप, यही है राष्ट्रीयता का आध्यात्मिक स्वरूप।

श्री अरविन्द इस पथ पर अपनी सहधर्मिणी का सहयोग चाहते हैं और तब दूसरा ईश्वर-दर्शन का लक्ष्य इन शब्दों में व्यक्त करते हैं—"दूसरा पागलपन हाल में ही सिर पर सवार हुआ है, वह यह है कि चाहे जैसे भी हो, भगवान् का साक्षात् दर्शन प्राप्त करना ही होगा।...ईश्वर यदि हैं तो उनके अस्तित्व को अनुभव करने का, उनका साक्षात् दर्शन प्राप्त करने का कोई-न-कोई पथ होगा, वह पथ चाहे कितना भी दुर्गम क्यों न हो, उस पथ से जाने का मैंने दृढ़ संकल्प कर लिया है।" वे आगे हिन्दू धर्म के द्वारा निर्दिष्ट पथ पर चलकर कुछ उपलब्धियां हो चुकी हैं, यह भी इंगित करते हैं—"हिन्दू धर्म का कहना है कि अपने शरीर के, अपने मन के भीतर ही वह पथ है। जाने के नियम भी दिखा दिए हैं, उन सब का पालन करना मैंने आरम्भ कर दिया है, एक मास के अन्दर अनुभव कर सका हूं कि हिन्दू धर्म की बात झूठी नहीं है, जिन-जिन चिह्नों की बात कही गई है, उन सबकी उपलब्धि मैं कर रहा हूं।"

यहां यह विचारने की बात है कि ३० अगस्त, १९०५ को जिन उपलब्धियों की श्री अरविन्द चर्चा कर रहे हैं, वे क्या रही होंगी। अवश्य ही प्राणायाम के चमत्कारी परिणाम इसमें सम्मिलित रहे होंगे।

श्री अरविन्द ने अपनी पत्नी को, इस पथ पर चलने की इच्छा हो तो, अनुगमन करने के लिए कहा था। और तब राष्ट्रभक्ति के आध्यात्मिक महाव्रत को अपना तीसरा लक्ष्य बताते हुए वे कहते हैं—"तीसरा पागलपन यह है कि अन्य लोग स्वदेश को एक जड़ पदार्थ, कुछ मैदान, खेत, वन, पर्वत, नदी भर समझते हैं; मैं स्वदेश को मां मानता हूं, उसकी भक्ति करता हूं, पूजा करता हूं।" और फिर मातृभूमि पर पराधीनता का संकट होते हुए सुख-चैन कैसे भोगा जा सकता है, इस बात को व्यक्त करते हैं—"मां की छाती पर बैठकर यदि कोई राक्षस रक्तपान करने के लिए उद्यत हो तो अच्छा पुत्र क्या करता है ? निश्चित होकर भोजन करने, स्त्री-पुत्र के साथ आमोद-प्रमोद करने के लिए बैठ जाता है या मां का उद्धार करने के लिए दौड़ पड़ता है ?"

यहां पर यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि भारतमाता का यह वर्णन क्या भावुक वर्णन मात्र है, एक कविहृदय जैसा अथवा श्री अरविन्द या उनके सदृश श्री विपिन चन्द्र पाल आदि जब ऐसी भाषा बोलते हैं तो वे एक सत्य का वर्णन करते हैं और उनके मन में सच ही वैसी अनुभूति होती है, मस्तिष्क में सच ही भारतमाता की जीवमान सत्ता होती है। श्री अरविन्द से स्वयं भी यह प्रश्न उनके एक शिष्य श्री नीरदवर्ण ने पूछा था तो श्री अरविन्द ने कहा था—"...मैं कोई जड़वादी नहीं हूं। यदि मैंने भारत को मात्र एक भौगोलिक क्षेत्र के रूप में देखा होता, जिसमें

कुछ कम-ज्यादा रोचक लोग रहते हों, तो मैंने उस कथित क्षेत्र के लिए उतना सब कुछ मार्ग से हटकर शायद ही किया होता।" और फिर व्यंग-भरी शैली में कहा था—"केवल काव्यात्मक या देशभक्तिपूर्ण भाव—जैसे तुम्हारे अन्दर तुम्हारा मांस, त्वचा, हड्डियां तथा अन्य वस्तुएं···तो वास्तविक हैं; परन्तु जिसे तुम अपना मन व आत्मा कहते हो वे सत्ताहीन हैं, खाए हुए भोजन तथा ग्रंथियों की सक्रियता से उत्पन्न मनोवैज्ञानिक प्रभाव मात्र न !" वस्तुतः जैसे आत्मा और मन सूक्ष्म होने के कारण प्रत्यक्ष दिखाई नहीं पड़ सकते, परन्तु फिर भी वे ही अधिक वास्तविक और यथार्थ हैं। शरीर आदि अनित्य हैं, आत्मा ही नित्य है। आत्मा की अभिव्यक्ति के लिए ही शरीर आदि का उपयोग है। ठीक वैसे ही भारत माता की आध्यात्मिक सत्ता का साक्षात्कार ही सच्चे भारत को देखना है। भवन्स जर्नल (२२ जुलाई, १९६२) में श्री कन्हैयालाल माणिकलाल मुंशी ने, जिन्हें श्री अरविन्द के छात्र रहने का बड़ौदा में सौभाग्य मिला था, लिखा था कि श्री अरविन्द भारत के मानचित्र को भारतमाता का चित्र कहते थे। वे भारत को उसकी विशाल देह, भारतवासियों को उस देह का कोश तथा भारतीय संस्कृति को उसकी आत्मा के रूप में देखते थे और छात्रों को भारतमाता की जीवित माता के रूप में अर्चना-भक्ति तथा ध्यान करने का उपदेश देते थे। उन्होंने कहा था—"भारत को जीवित माता के रूप में एकबार देखो। उसका ध्यान करो और नवधा भक्ति से उसकी अर्चना करो।"

इस पत्र से यह भी ज्ञात होता है कि श्री अरविन्द मानते थे कि वे स्वयं शारीरिक शक्ति से नहीं, ज्ञान-बल से हिन्दू जाति का उद्धार कर सकते हैं और ज्ञान पर आधारित ब्रह्मतेज, क्षात्रतेज से बढ़कर है। श्री अरविन्द ने अपने इस उद्देश्य को किसी नए प्रभाव की उपज न बताते हुए लिखा था—"यह भाव नया नहीं है, आजकल का नहीं है, इस भाव को लेकर ही मैंने जन्म ग्रहण किया है, यह भाव मेरी नस-नस में भरा है, भगवान् ने इसी महाव्रत को पूर्ण करने के लिए मुझे पृथ्वी पर भेजा है।" यह भाव कब से मन में उदित हुआ था? चौदह वर्ष की अवस्था में इसका बीज अंकुरित होने लगा था, अठारह वर्ष की अवस्था में इसकी प्रतिष्ठा दृढ़ और अचल हो गई थी। यह १४ से १८ वर्ष का काल जो किशोरावस्था का महत्त्वपूर्ण काल है, सेंट पाल्स स्कूल में अध्ययन का काल था। उस समय विश्व-भर के इतिहासों के अध्ययन इत्यादि के परिणामस्वरूप भारत को स्वतन्त्र करने का जो संकल्प उनके मन में जागा होगा, उसी का यहां संकेत है।

आगे श्री अरविन्द ने इसी पत्र में स्थान-स्थान पर कुछ और भी महत्त्वपूर्ण बातें सूत्रवत् कही हैं—"मैं अच्छे कपड़े पहनूंगी, हँसूंगी, नाचूंगी, सब प्रकार के सुखभोगूंगी—यह जो मन की अवस्था है इसे उन्नति नहीं कहते। आजकल हमारे देश की स्त्रियों के जीवन ने ऐसा ही संकीर्ण और अति हेय आकार धारण कर

लिया है। तुम यह सब छोड़ दो, मेरे साथ आओ, जगत में हम भगवान् का कार्य करने के लिए आए हैं, उसी कार्य को आरम्भ करें।" यहां पर ईश्वरीय कार्य के लिए आने की जो बात कही गई है वह कुछ विशिष्ट श्री अरविन्द या मृणालिनी देवी तक सीमित बात हो, यह श्री अरविन्द का मत नहीं है। हम सभी मानव ईश्वरीय कार्य के निमित्त पृथ्वी पर आए हैं, यह जीवन-दृष्टि है। श्री अरविन्द की कुछ और पंक्तियां भी उल्लेख्य हैं—"जो कोई कहता है, उसी की तुम सुनती हो। इससे मन सर्वदा अस्थिर रहता है, बुद्धि का विकास नहीं होता, किसी कार्य में एकाग्रता नहीं होती। इसे सुधारना होगा, एवं मनुष्य की ही बात सुनकर ज्ञान-संचय करना होगा, एक लक्ष्य बनाकर अविचलित चित्त से कार्य सिद्ध करना होगा, लोगों की निंदा और कटाक्ष की परवाह न कर स्थिर भक्ति रखनी होगी।" स्थिर भक्ति के अभ्यास का राजमार्ग बताने वाली ये पंक्तियाँ महत्त्वपूर्ण हैं। उसी प्रकार गंभीरतापूर्वक गंभीर बातों को ग्रहण करने की शिक्षा देने वाली ये पंक्तियां भी ध्यान देने योग्य हैं—"लोग गंभीर बात को भी गंभीर भाव से नहीं सुनते, धर्म, परोपकार, महती आकांक्षा, देशोद्धार, जो कुछ गंभीर, जो कुछ उच्च और महान् है, उन सब बातों में ही हँसी-ठट्टा और व्यंग करते हैं, सब कुछ हँसकर उड़ा देना चाहते हैं···मन के इस भाव को दृढ़ मन के द्वारा भगाना होता है।"

श्री अरविन्द का यह पत्र अत्यन्त स्वाभाविक रूप से लिखा गया गोपनीय पत्र था और पुलिस ने यदि इसे दस्तावेज़ के रूप में प्रकट न किया होता तो विश्व के पत्र-साहित्य का यह अमूल्य रत्न यों ही नष्ट हो जाता। पर अब तो यह ऐतिहासिक पत्र सचमुच में दस्तावेज़ है। कभी-कभी ऐसे ही आश्चर्यजनक कार्य प्रकृति अनायास कर देती है।

१०. एक महान् त्याग: एक अधूरा स्वप्न

"वह समय ही ऐसा था—देश पहले, मानवता वाद
में और शेष कभी नहीं।"

—श्री अरविन्द

२० जुलाई, १९०५ को सरकार ने बंगाल के विभाजन की घोषणा की। १६ अक्तूबर, १९०५ को बंगाल का विभाजन कार्यान्वित भी कर दिया गया। बंगाल का क्रोध उमड़ पड़ा, मानो हृदय में आग लग गई हो। श्री अरविन्द ने लोकमान्य तिलक के समान ही राष्ट्रीय जागृति के लिए इस अवसर का मूल्य समझा। १४ अप्रैल, १९०६ की प्रसिद्ध बारीसाल परिषद् में श्री अरविन्द भी उपस्थित थे। जब सरकार ने इस परिषद् को गैर-कानूनी घोषित कर दिया तो विरोधस्वरूप निकले जुलूस में सबसे आगे श्री विपिनचन्द्र पाल के साथ श्री अरविन्द भी थे। पुलिस ने नेताओं को निकल जाने दिया और अनुयायियों को रोक दिया। यही नहीं, जनता पर लाठी-प्रहार भी हुआ। तब 'वन्देमातरम्' कहना भी कानून की दृष्टि में अपराध था। उसी समय श्री विपिनचन्द्र पाल के साथ श्री अरविन्द ने भी पूर्वी बंगाल के ज़िलों का दौरा किया। व्यक्तिगत सम्पर्क से राजनीतिक चेतना जगाने का यह प्रयत्न था।

१२ जून, १९०६ को उन्होंने बड़ौदा से एक वर्ष का अवैतनिक अवकाश लेकर बड़ौदा त्याग दिया। और अगस्त १९०६ में श्री अरविन्द 'बंगाल नेशनल कालिज', कलकत्ता के प्रिंसिपल हो गए थे। यही विकसित होकर आज 'जादवपुर विश्वविद्यालय' बन चुका है। इस कालिज को 'जातीय शिक्षा परिषद्' ने चलाया था। श्री अरविन्द ने बड़ौदा कालिज में ७०० रुपए मासिक के वेतन को त्यागकर नेशनल कालिज में १५० रुपए मासिक पर प्रिंसिपल होना क्यों स्वीकार कर लिया? यह महान् त्याग उन्होंने किया, क्योंकि धन की ममता उन्हें कभी नहीं रही और क्योंकि वे बंगाल की राजनीतिक गतिविधियों में सीधे भाग लेकर राष्ट्रीय राजनीति को एक उचित मोड़ देने के लिए बड़ौदा में सरकारी सेवा में होने के कारण बंधा-बंधा अनुभव कर रहे थे। किन्तु एक कारण और भी था।

जिन आई० सी० एस० अधिकारियों ने श्री अरविन्द की राष्ट्रीय कार्यवाहियों

में चुपचाप योगदान किया था, उनमें थाना (महाराष्ट्र) में न्यायाधीश रहे श्री चारुचन्द्र दत्त के निवास पर ही श्री अरविन्द की राजा सुबोध मल्लिक नामक एक बंगाली देशभक्त धनी व्यक्ति से भेंट हुई थी और तभी से वे उनके राष्ट्रीय कार्यों में सहयोगी हो गए थे। श्री सुबोध मल्लिक ने ही उन राष्ट्रीय जागृति के क्षणों में 'बंगाल नेशनल कालिज' की स्थापना के लिए एक सार्वजनिक सभा में एक लाख रुपए के दान की घोषणा की थी। श्री मल्लिक यह जानते थे कि श्री अरविन्द ब्रिटिश शिक्षा-पद्धति के सक्षम आलोचक रहे हैं तथा सफल शिक्षक के रूप में बड़ौदा में यश प्राप्त करने वाले श्री अरविन्द यदि इस नए कालिज में राष्ट्रीय शिक्षा के क्षेत्र में प्रयोग करें तो उचित रहेगा, अतः उन्होंने एक लाख के दान के साथ यह शर्त भी जोड़ दी कि श्री अरविन्द उसमें प्रिंसिपल बनें। अतः श्री अरविन्द से देशबन्धु चित्तरंजन दास आदि ने आग्रह किया। इसके पीछे अवश्य ही यह भावना भी रही होगी कि बंगाल की जागृति में श्री अरविन्द का खुला सहयोग मूल्यवान सिद्ध होगा। श्री अरविन्द ने प्रिंसिपल पद को सहर्ष स्वीकार कर लिया क्योंकि राष्ट्रीय शिक्षा-सम्बन्धी अपनी धारणाओं को मूर्त रूप देने, राजनीति में खुलकर भाग लेने तथा सशस्त्र क्रान्ति की योजना के संघटन को अधिक व्यावहारिक रूप देने के लिए बंगाल अधिक उपयुक्त था। उस समय भी धन की दृष्टि से इतना बड़ा त्याग करना सबको आश्चर्यचकित करने वाला था। किन्तु उस समय राष्ट्रीय वातावरण में जो त्याग की धुन थी, देशभक्ति का जो उन्माद छाया हुआ था, भारत माता की बलि-वेदी पर सर्वस्वार्पण की जो होड़ लगी थी, उसे देखते हुए और श्री अरविन्द के आई० सी० एस० के वैभव-भरे जीवन को ठुकरा देने वाले व्यक्तित्व को देखते हुए यह स्वाभाविक ही था। वस्तुतः "वह समय ही ऐसा था—देश पहले, मानवता बाद में और शेष कभी नहीं।'

श्री अरविन्द ब्रिटिश शिक्षा-पद्धति में भारतीय प्रतिभा को नष्ट होता देखकर व्यथित थे। 'इन्दुप्रकाश' में अपने दूसरे लेख (२१ अगस्त, १८९३) को उन्होंने लिखा था…"हमारी सार्वजनिक शिक्षा-पद्धति वास्तव में मनुष्यत्व की हत्या के लिए आविष्कृत एक ऐसा षड्यन्त्र है जिसे मानव की विचारहीनता ने अपनी दुष्टता के सबसे विशेष क्षणों में रचा था। यह पद्धति मानव-शरीर की ही हत्या नहीं करती अपितु उसकी आत्मा की, उसके अन्तरतम के उस तेजस्वी व्यक्तित्व की भी हत्या कर देती है जो मानव के नश्वर जीवन से कहीं अधिक पवित्र और मूल्यवान है।" वे पाश्चात्य शिक्षा-पद्धति के प्रति अत्यन्त घृणा रखते थे क्योंकि "वे यह अनुभव करते थे कि यह भारतीयों की स्वभावतः तीव्र, उज्ज्वल और कोमल बुद्धि को मन्द, दुर्बल और संकीर्ण बना देती है, उसे बुरी बौद्धिक आदतें सिखाती है तथा संकुचित जानकारी व यांत्रिक शिक्षण के द्वारा उसकी मौलिकता और उर्वरता को नष्ट कर डालती है।"

नेशनल कालेज में श्री अरविन्द के सहयोगियों में श्री सतीशचन्द्र मुकर्जी, श्री राधाकुमुद मुकर्जी तथा श्री प्रमथनाथ मुख्योपाध्याय के नाम उल्लेखनीय हैं। श्री प्रमथनाथ मुख्योपाध्याय अपने योगी-दार्शनिक-रूप में वड़े प्रसिद्ध हुए और कालान्तर में 'स्वामी प्रत्यगात्मानन्द' नाम से संन्यास-जीवन में प्रतिष्ठित हुए। श्री राधाकुमुद मुकर्जी का नाम प्रसिद्ध है ही। श्री सतीशचन्द्र मुकर्जी ने श्री अरविन्द के त्यागपत्र के पश्चात् कार्यभार संभाला था।

शीघ्र ही श्री अरविन्द को यह ज्ञात हो गया कि जातीय शिक्षा परिषद् में पुरानी शिक्षा-पद्धति से पढ़े लोगों की एक वड़ी संख्या, जो राष्ट्रीय दृष्टि से कायर भी है, उन्हें अपनी धारणाओं के अनुसार कालेज नहीं चलाने देगी। १९१७ में अपनी कृति 'इडियन नेशनलिज़्म : इट्स प्रिंसिपल्स एण्ड पोटेंशियलिटीज़' में श्री विपिनचन्द्र पाल ने जो लिखा था, जो वाद में 'कैरेक्टर स्केचिज़' में श्री अरविन्द घोष के चरित्र-चित्रण के रूप में भी प्रकाशित हुआ, इस सम्वन्ध में कुछ महत्त्वपूर्ण वातें मिलती हैं जो उल्लेख्य हैं। जातीय शिक्षा परिषद् ने वहुमत से यह निर्णय किया था कि नेशनल कालिज और सदृश संस्थाओं को राजनीति से पूर्णतया पृथक् रखा जाए जिससे व्रिटिश सरकार का कोपभाजन न वनना पड़े। श्री अरविन्द इस कायरता-भरे निर्णय से सहमत कैसे हो सकते थे! किन्तु किया भी क्या जा सकता था! "आधुनिक सार्वजनिक जीवन में एक दुर्भाग्यपूर्ण वात यह भी है कि सभी विशाल जन-आन्दोलनों को समाज के धनी वर्गों की सहायता व समर्थन पर निर्भर रहना पड़ता है। हमारे काल के वड़े और संघटित आन्दोलन, वड़े व ठोस आर्थिक समर्थन के विना नहीं चलाए जा सकते; और धनी लोग किसी भी संस्था को विना उस पर नियन्त्रण चाहे सहायता देना नहीं चाहते।" परिणाम यह होता है कि सार्वजनिक संस्थाएं शीघ्र ही त्यागी, प्रतिभाशाली तथा प्रेरित व्यक्तियों के उत्तम मार्गदर्शन से वंचित हो जाती हैं और जातीय शिक्षा परिषद् भी शीघ्र ही राष्ट्रवादियों के प्रभावक्षेत्र से निकल गई और "अरविन्द की स्थिति नेशनल कालेज के नाममात्र के प्राचार्य के रूप में···असंगति वनकर रह गई।"

निस्सन्देह इसे दुर्भाग्यपूर्ण ही कहा जाएगा कि इतनी उत्कृष्ट शिक्षा प्राप्त, सर्वस्व त्यागी तथा मनीषी श्री अरविन्द भी अपने देशवन्धुओं के द्वारा अवमानना के शिकार हुए। आज भी कितने ही प्रतिभाशाली शिक्षक, मूर्ख प्रवन्धकों व प्रवन्ध समितियों के राक्षसी वहुमत के नीचे अपने उत्कृष्ट शैक्षणिक स्वप्नों को कुचला जाता देखने को वाध्य हैं।

श्री विपिनचन्द्र पाल के शव्दों में ही—"वह शिक्षाविद् के रूप में कलकत्ता गए थे। वह जानते थे कि राष्ट्रीय स्वातंत्र्य और राष्ट्रीय महानता का आधार राष्ट्रीय शिक्षा की सशक्त व उन्नत पद्धति को ही वनाना चाहिए। निस्सन्देह उनका एक राजनीतिक आदर्श था किन्तु उनके लिए राजनीति का अर्थ साधा-

रणतया समझे जाने वाले अर्थ से कहीं अधिक था। उनके लिए यह स्वार्थ पराय-णता का खेल नहीं था अपितु चरित्र-विकास की पाठशाला थी।" और इसी कारण "शिक्षा को राजनीति से वैसे ही पृथक नहीं किया जा सकता, जैसे धर्म या नैति-कता से।" क्योंकि जीवन के विविध क्षेत्रों को पृथक्-पृथक् विभाजित करके देखना सही दृष्टिकोण नहीं कहा जा सकता और राष्ट्रीय शिक्षा में ऐसी भूल घातक होगी। तब तो शिक्षा मध्ययुगीन ही कही जा सकती है, आधुनिक नहीं।

कुर्ता-धोती पहने, चादर लपेटे श्री अरविन्द नेशनल कालिज में भी बहुत लोकप्रिय हुए। वे अंग्रेज़ी के प्रोफेसर भी थे और प्रिंसिपल भी। उनके उस काल के शिष्यों व मित्रों ने श्री अरविन्द के तत्कालीन व्यक्तित्व की बड़ी प्रशंसा की है। वे प्रायः गंभीर और योगी-जैसे शांत दिखाई पड़ते और राष्ट्रीय प्रश्नों पर चर्चा छिड़ने पर कुछ भावुक हो उठते। एक बार 'बंकिम दिवस' को राष्ट्रीय उत्सव मनाने-न मनाने पर हुई चर्चा में श्री अरविन्द ने भाग लेकर राष्ट्रीय उत्सव के पक्ष में ज़ोरदार निर्णय करा दिया था।

अपनी इच्छा के अनुसार छात्रों के जीवन को राष्ट्रीयता के सांचे में ढालने के उनके प्रयासों को प्रबन्ध समिति का समर्थन मिलना असंभव देखकर श्री अरविन्द का ध्यान राजनीति में अधिकाधिक खिंचता गया। वे 'वन्देमातरम्' पत्र में लिखने तथा सम्पादनमें सहयोगी होने के कारणऔर भी अधिक व्यस्त हो गए। राजनीति में वे गहरे उतरते चले गए और उनकी प्रतिभा ने अपने लिए लेखन व कार्य करने के क्षेत्र खोज लिए। कालिज से उनका ध्यान हटता चला गया। 'वन्देमातरम्' पत्र का सम्पादक उन्हें मानकर सरकार ने जब अभियोग चलाया, तब श्री अरविन्द ने कालेज के प्रबन्धकों को असुविधा न हो, इस निमित्त प्रिंसिपल-पद से त्यागपत्र दे दिया था। उस समय विद्यार्थियों ने अपने श्रद्धेय व लोकप्रिय श्री अरविन्द से मार्ग-दर्शन की प्रार्थना की। उन विद्यार्थियों की सभा में २२ अगस्त, १९०७ को दिया गया संक्षिप्त भाषण आज भी प्रत्येक विद्यार्थी को प्रभावित कर सकता है।

अपने भाषण में उन्होंने विद्यार्थियों के प्रेम की सराहना अत्यन्त भावुकता-पूर्वक की थी किन्तु उन्हें यह समझाने का प्रयत्न भी किया था कि राष्ट्र-कार्य के लिए जिन परिस्थितियों में से वे चल रहे थे उन्हें 'कष्ट' कहकर विद्यार्थियों ने त्रुटि की है क्योंकि यह बाल्यावस्था से स्वीकृत राष्ट्र-भक्ति का व्रत स्वेच्छा से स्वीकृत है, इसमें आने वाली कठिनाइयां सहन करने से ही राष्ट्र का कल्याण होगा। अतः उसमें तो खिन्नता का प्रश्न ही नहीं, प्रसन्नता ही हो सकती है। श्री अरविन्द ने विद्यार्थियों को अपने कष्टों की अपेक्षा अपने उद्देश्य के प्रति सहानुभूति रखने को कहा क्योंकि उसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए श्री अरविन्द ने कष्ट सहन करने का व्रत लिया हुआ था। श्री अरविन्द ने नयी पीढ़ी का आवाहन करते हुए कहा था—
"यदि मुझे यह ज्ञात हो जाए कि नयी पीढ़ी ने इस उद्देश्य को स्वीकार कर लिया

है और मैं कहीं भी जाऊं, मेरे पीछे कार्य के पूर्ण करने वाले हैं तो मैं विना किसी खिन्नता के जा सकूंगा।"

श्री अरविन्द ने विद्यार्थियों के द्वारा प्रदर्शित प्रेम व सम्मान को वस्तुतः भारतमाता के प्रति प्रदर्शित बताते हुए कहा था—

"...वह वस्तुत: मेरे प्रति नहीं है, प्रिंसिपल के प्रति नहीं है, अपितु अपने देश के प्रति है, मुझ में वर्तमान (भारतमाता) के प्रति है, क्योंकि जो भी थोड़ा-वहुत मैंने किया है, उसी (माता) के लिए किया है और जो थोड़ा-सा कष्ट मैं सहन करूंगा, वह भी उसी के लिए।"

श्री अरविन्द ने मार्गदर्शन करते हुए कहा था—"जिसके लिए यह कालिज वनाया गया था, उस कार्य को, उस उद्देश्य को वनाए रखो।...जव हमने इस कालिज की स्थापना की थी तथा अन्य काम-धन्धे, जीवन के सुयोग त्याग दिए थे जिससे इस संस्था को जीवन अर्पित कर सकें, तव हमने यह इसलिए किया था कि हम इसमें एक नयी नींव, एक राष्ट्र का शक्ति-केन्द्र देखने की आशा करते थे।" नवीन भारत का निर्माण करने का स्वप्न लिए इस कालिज का उद्देश्य कुछ विषयों की जानकारी मात्र देना नहीं था—"हम यहाँ पर आप लोगों को थोड़ी-सी जानकारी मात्र देना नहीं चाहते, जीविकाओं (कैरियरों) के मार्ग खोल देना मात्र नहीं चाहते, अपितु मातृभूमि के पुत्रों का निर्माण करना चाहते हैं जो उसके लिए कार्य करें और कष्ट झेलें।...हमने जो कुछ अपर्याप्त रूप से और अपूर्ण रूप से प्रारम्भ किया है, उसे पूरा करना और पूर्णत्व तक पहुंचा देना आप ही का कार्य है।"

तत्पश्चात् श्री अरविन्द ने विद्यार्थियों को भावी जीवन में कुछ के धनी वनने की कामना और आशा व्यक्त की, परन्तु उन्हें सन्देश दिया—"धनी अपने लिए नहीं, अपितु माता को अपनी सम्पत्ति से समृद्ध करने के लिए।" कुछ के महान् वनने की कामना और आशा व्यक्त की परन्तु साथ ही सन्देश दिया—"महान् अपने लिए नहीं, अपने अभिमान को संतुष्ट करने के लिए नहीं, अपितु माता के लिए, भारत को महान् वनाने के लिए। यही नहीं जो छात्र भविष्य में निर्धन और सुखविहीन रह जाएं उनके प्रति भी उन्होंने कामना की कि वे अपनी निर्धनता व सुखरहिता मातृभूमि को समर्पित कर दें। तदनंतर उनके वे शब्द हैं जो युग-वाणी कही जा सकती है —"किसी भी राष्ट्र के जीवन में ऐसे समय आते हैं जव परमात्मा उसके सामने एक ही कार्य रखता है, एक ही उद्देश्य रखता है. जिस पर प्रत्येक अन्य वस्तु, चाहे वह स्वयं में कितनी ही ऊंची व उत्तम हो, न्योछावर कर दी जाती है। हमारी मातृभूमि के लिए ऐसा समय अब आ गया है जव उसकी सेवा से अधिक प्रिय कुछ भी नहीं है, जव प्रत्येक अन्य वस्तु उसी उद्देश्य की पूर्ति में समर्पित करनी है।" और इसीलिए उन्होंने कहा था—"यदि आप विद्याध्ययन करते हैं तो उसके लिए विद्याध्ययन करिए, उसकी सेवा के लिए अपने तन, मन

और आत्मा को प्रशिक्षित कीजिए। अपनी जीविका कमाइए तो इसलिए कि उसके लिए जी सकें। आप विदेश जाएं तो इस उद्देश्य से कि आप वापस ज्ञान ला सकें जिससे आप उसकी सेवा कर सकें। कार्य करिए उसे समृद्ध करने के लिए। कष्ट उठाइए उसे सुखी करने के लिए। इस एक परामर्श में ही सब कुछ है।" निस्सन्देह इस एक परामर्श में ही राष्ट्र-भक्ति का अमर सूत्र है, गागर में सागर है।

श्री अरविन्द अपने प्रति सहानुभूति को, अपने उद्देश्य के प्रति, अन्ततः देश के प्रति प्रवृत्त करने की प्रेरणा देते हैं किन्तु साथ ही कोरी सहानुभूति नहीं सक्रिय सहानुभूति चाहते हैं—"आपके लिए मेरा अंतिम शब्द यह है कि यदि आपकी मुझसे सहानुभूति है, तो मैं इसे केवल व्यक्ति के प्रति भावना मात्र नहीं, अपितु जिस उद्देश्य के लिए मैं कार्यशील हूं उसके प्रति सहानुभूति-स्वरूप देखने की आशा करता हूं। मैं इस सहानुभूति को कार्यान्वित देखना चाहता हूं…।"

'वन्देमातरम्-अभियोग' में श्री अरविन्द निर्दोष घोषित हो गए किन्तु वापस आकर वे नेशनल कालिज में प्रोफेसर मात्र हुए, प्रिंसिपल नहीं। किन्तु राजनीतिक गतिविधियों की व्यस्तता में वे कालेज में तो नाममात्र को थे। अंततः वह दिन भी आया जब श्री अरविन्द ने अपना त्यागपत्र देकर शिक्षक-जीवन से सदैव के लिए मुक्ति पा ली। श्री अरविन्द ४ मई, १९०८ को अलीपुर बम-काण्ड में बन्दी बनाए गए और ५ मई, १९०९ को निर्दोष घोषित होने पर मुक्त कर दिए गए। इसी मुकदमे के मध्य कभी उन्होंने 'जातीय शिक्षा परिषद्' की इच्छानुसार त्याग-पत्र दे दिया और इस प्रकार जहां 'नेशनल कालिज' एक ज्योतिर्मय मार्गदर्शक को खो बैठा, कालिज को राष्ट्र जीवन का शक्ति-केन्द्र बनाने का श्री अरविन्द का प्रयास भी सदैव के लिए बिखर गया, स्वप्न भी सदैव के लिए अधूरा रह गया और वही नेशनल कालिज आज 'जादवपुर विश्वविद्यालय' बनकर भी श्री अरविन्द के अधूरे स्वप्न का स्मरण दिलाता है।

कौन है जो राष्ट्रीय शिक्षा के इस स्वप्न को पूर्ण कर सकेगा ?

'युगान्तर' और 'वन्देमातरम्'

"उदीर्ध्व जीवो असुर्व आगादप प्रागान् तम आ ज्योतिरेति ।"
(उठो ! प्राण सक्रिय हुआ । अन्धकार गया । ज्योति आ गई ।)
—(ऋग्वेद १/११३/१६)

श्री अरविन्द की योजना से वारीन द्वारा प्रवर्तित वंगभाषा में साप्ताहिक 'युगान्तर' और स्वतन्त्र योजना से श्री विपिनचन्द्र पाल द्वारा प्रवर्तित अंग्रेज़ी दैनिक (वाद में साप्ताहिक) 'वन्देमातरम्' में श्री अरविन्द क्रमश: लेखक व सम्पादक के रूप में विना नाम आए प्रभावी लेख लिखते रहे। 'युगान्तर' १२ मार्च, १९०६ को प्रारम्भ हुआ था और 'वन्देमातरम्' ६ अगस्त, १९०६ को। स्वामी विवेकानन्द के अनुज श्री भूपेन्द्रनाथ दत्त के सम्पादन में 'युगान्तर' में 'आनन्दमठ' की भावना खुले रूप में व्यक्त हो रही थी। इसके प्रारम्भिक अग्निवर्षी लेखों में से अनेक श्री अरविन्द के ही थे। पत्र की लोकप्रियता वढ़ती ही चली गई और एक वर्ष में ही उसकी खपत १०००—५०००—१००००--२०००० प्रति सप्ताह तक पहुंची। एक प्रेस में इसका छापना भी असंभव हो गया था। पता नहीं उसे कहां-कहां छपाया जाता। परन्तु यह ध्येयवादी पत्र चलता रहे इसकी व्यवस्था चुपचाप श्री अरविन्द देख रहे थे। पत्र की आर्थिक स्थिति खराव थी क्योंकि वहां धन का हिसाव रखने की भी चिन्ता किसे थी। वारीन के सहयोगी रहे श्री उपेन्द्रनाथ वंद्योपाध्याय ने अपनी कृति 'गल्प भारती' में लिखा है—"हमारे व्यापारिक ढंग पूर्णतया निराशाजनक थे। कार्यालय के एक कोने में एक टूटा हुआ संदूक धन रखने के लिए हर समय रखा रहता था। उसमें कभी ताला नहीं लगता था। कोई भी व्यक्ति न आय की चिन्ता करता था, न व्यय की, क्योंकि हमारा उद्देश्य धन कमाना नहीं था।"

'वन्देमातरम्' का प्रारम्भ श्री विपिनचन्द्र पाल ने केवल ५०० रुपए से किया था। उन्होंने श्री अरविन्द को पत्र में सहयोग के लिए आमंत्रित किया, जिसे उन्होंने सहर्ष स्वीकार कर लिया। कांग्रेस के अग्रगामी दल के युवकों ही को उन्होंने इस वात पर सहमत कर लिया कि वे लोकमान्य तिलक के नेतृत्व में राष्ट्रवादी दल के रूप में संगठित हों और 'वन्देमातरम्' को अपना मुखपत्र स्वीकार कर लें।

कांग्रेस का यह नया राष्ट्रवादी दल शीघ्र ही प्रसिद्ध हो गया और 'वन्देमातरम्' भी अखिल भारतीय प्रसिद्धि प्राप्त कर गया। 'वन्देमातरम्' एक साझा कम्पनी के रूप में कुछ संचालकों द्वारा सम्पादित किया व चलाया जाने लगा। उद्देश्य यह था कि सरकार उसके सबसे महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को राजद्रोह में बन्द न कर सके। विपिनचन्द्र पाल और श्री अरविन्द के अतिरिक्त श्री श्यामसुन्दर चक्रवर्ती, श्री हेमेन्द्रप्रसाद घोष, श्री विजय चटर्जी आदि अनेक कार्यकर्ताओं के सम्मिलित प्रयासों से 'वन्देमातरम्' शीघ्र ही एक उत्कृष्ट और प्रभावी अंग्रेज़ी पत्र हो गया और भारत व इंग्लैण्ड में उसके उद्धरण भय या आदर के साथ दिए जाने लगे। श्री विपिनचन्द्र पाल का शीघ्र ही अन्य संचालकों से इस बात में मतभेद बढ़ता गया कि क्रांतिकारी आन्दोलन से सम्बन्ध रखा जाए या न रखा जाए। श्री अरविन्द की १९०६ में अक्तूबर से दिसम्बर मध्य तक की अस्वस्थता के मध्य ही श्री विपिनचन्द्र पाल अचानक अलग हो गए। श्री अरविन्द की स्वीकृति के बिना ही उनका नाम 'वन्देमातरम्' में एक दिन सम्पादक के रूप में छाप भी दिया गया। किन्तु, श्री अरविन्द ने केवल एक दिन से अधिक ऐसा नहीं होने दिया। फिर भी 'वन्देमातरम्' की नीति का निर्धारण वे ही करते रहे। यह पत्र अलीपुर बम-काण्ड में श्री अरविन्द की जेल-यात्रा के कुछ समय पश्चात् तक चलता रहा। आर्थिक स्थिति बहुत बिगड़ने पर भी पत्र को बन्द करना अप्रतिष्ठाकारक लगता था। अतः श्री श्यामसुन्दर व श्री हेमेन्द्र प्रसाद घोष ने जान-बूझकर एक ऐसा उग्र लेख लिखा कि सरकार ने इस आलोचक पत्र को सदैव के लिए बन्द कर दिया। इस प्रकार 'वन्देमातरम्' के संक्षिप्त जीवन का ससम्मान अन्त हो गया।

'वन्देमातरम्' पत्र की नीति के प्रमुख सूत्र थे :

१. पूर्ण स्वराज्य की भावना जगाना;

२. सरकारी अत्याचारों पर तेजस्वी प्रहार करना और प्रतिकार के लिए राष्ट्र को प्रेरित करना; और

३. राष्ट्र की आत्मा को जागृत करने वाले आन्दोलनों, विचारों तथा घटना-चक्रों को समर्थन देना तथा देशद्रोहियों व पथभ्रष्टों की कड़ी समीक्षा करना।

वस्तुतः श्री अरविन्द राष्ट्रवादी दल का भी मार्गदर्शन कर रहे थे और 'वन्देमातरम्' का भी, अतः दल के इस मुखपत्र में उनकी चिन्तन-प्रणाली तथा कार्यपद्धति पूर्णतया प्रतिबिम्बित हुई है, जैसा हम आगे देखेंगे।

१२. 'स्वराज्य' का लक्ष्य

न स्फूर्जति न च गर्जति न च करकाः किरति सृजति
न च तडितः।
न च विनिर्मुंचति वात्यां वर्षति निभृतं महामेघः ॥
(महामेघ भड़कता नहीं, गरजता नहीं, ओले नहीं बिखे-
रता और न बिजली कौंधाता है। वह तूफान भी नहीं
घहराता। केवल चुपचाप बरसता है।)

लोकमान्य तिलक और श्री अरविन्द में अनेक समानताएं थीं। दोनों ही सुशि-क्षित, राष्ट्रभक्ति से ओतप्रोत, पाश्चात्य संस्कृति के दोषों से परिचित, हिन्दुत्व के मर्मज्ञ और उस पर गौरव करने वाले, गीतातत्त्व के अनुसार कर्मयोगी, परि-स्थितियों के गंभीर निरीक्षक तथा ब्रिटिश धूर्तता की आंखों में धूल झोंकने वाले थे। दोनों ही कांग्रेस के 'सेफ्टी-वाल्व' रूप को भंग कर उसे राष्ट्रीय स्वातंत्र्य की प्राप्ति का सशक्त यंत्र बनाना चाहते थे। दोनों ही जानते थे कि भारतीय जागृति का तात्पर्य मुट्ठी भर अंग्रेज़ी पढ़े-लिखे भारतीयों की जागृति नहीं, कोटि-कोटि अशिक्षित, निर्धन, ग्रामीण और उपेक्षित भारतीयों की जागृति ही सच्ची जागृति है। राजनीति में दोनों की इतनी सदृश दृष्टि होने का ही यह स्वाभाविक परिणाम हुआ कि दोनों एक दूसरे की ओर आकृष्ट हुए।

श्री अरविन्द बड़ौदा में रहते हुए ही लोकमान्य तिलक के राजनीतिक व्यक्तित्व के प्रशंसक बन चुके थे। ठीक इसी प्रकार लोकमान्य भी उन्हें प्रत्यक्ष देखने से पहले ही उनकी गतिविधियों से परिचित हो चुके थे। महाराष्ट्र में लोक-मान्य की गणेश-उत्सव, शिवाजी-उत्सव सदृश योजनाओं ने जादू का-सा काम किया था। 'मराठा' और 'केसरी' पत्रों में वे अग्निवर्षा करते ही रहते थे। कांग्रेस में वे उग्र नेता कहे जाते थे और उनका दल विरोधियों द्वारा उग्रवादी दल—'एक्स्ट्रीमिस्ट' कहलाता था, और वैसे राष्ट्रवादी—नेशनलिस्ट। उनके विरोधी 'माडरेट' नरमदलीय या उदारदलीय कहलाते थे। हिमालय जैसे गंभीर लोकमान्य अन्दर-ही-अन्दर सशस्त्र क्रांतिकारियों की भी पीठ ठोकते रहते, उन्हें सहायता देते

रहते, उनका मार्गदर्शन करते रहते। श्री अरविन्द भी पर्दे के पीछे यही कार्य कर रहे थे परन्तु क्या केवल दानों के पारस्परिक सहयोग ने ही भारतीय इतिहास में एक महत्त्वपूर्ण मोड़ उपस्थित किया था ? नहीं, एक अन्य महापुरुष और भी थे—श्री विपिनचन्द्र पाल।

निस्सन्देह श्री अरविन्द और श्री विपिनचन्द्र पाल के सम्बन्धों का उल्लेख आवश्यक है। बंगाल में कांग्रेस के राष्ट्रवादी दल का नेतृत्व जिनमें मुखर हो उठा था, वे श्री विपिनचन्द्र पाल एक असाधारण दूरदृष्टि वाले तपस्वी नेता थे। उन्होंने भारत की आत्मा का साक्षात्कार किया था। उनके लेखों और भाषणों में 'अहम्' तो कहीं था ही नहीं, सर्वत्र 'राष्ट्र' ही था और यह राष्ट्र-कल्पना भी विशाल मानवता के कल्याणार्थ थी। उसमें न संकुचितता थी, न अहंकारिता। उनके भाषणों में हिन्दुत्व की ज्वाला धधकती थी। लेखों में स्पष्ट दृष्टि, तर्कयुक्त चिन्तन तथा ओजस्वी भाषा के साथ भावना व विचार का मनोहारी संगम प्रकट होता। शब्दों के वे जादूगर थे। राजनीति में वे न यश चाहते थे, न पद। वे चाहते थे केवल राष्ट्र का स्वातंत्र्य। श्री अरविन्द भी तो यही चाहते थे। श्री विपिनचन्द्र पाल और श्री अरविन्द दोनों एक-दूसरे के प्रशंसक थे। श्री अरविन्द ने स्वयं स्वीकारा है कि श्री पाल की वाणी में ईश्वरीय वाणी के सब लक्षण मिलते थे। बारीसाल परिषद् को सरकार द्वारा प्रतिबंधित करने के पश्चात् विरोधस्वरूप निकाले गए जुलूस में सबसे आगे जो तीन व्यक्ति थे, उनमें दो तो श्री विपिनचन्द्र पाल और श्री अरविन्द ही थे। बाद में श्री विपिनचन्द्र पाल ने पूर्वी बंगाल का दौरा करने पर श्री अरविन्द को साथ ले लिया था और बंग-भंग के विरोध में सरकार के मना करने पर भी विशाल सभाएं हुई। श्री अरविन्द व श्री विपिनचन्द्र पाल को एक-दूसरे के व्यक्तित्व एवं क्षमता के गम्भीर अध्ययन का मानो स्वर्णावसर मिला। और तत्पश्चात् दोनों एक-दूसरे के चिर प्रशंसक बन गए। 'वन्देमातरम्' प्रारम्भ होने के पश्चात् शीघ्र ही श्री पाल के अनुरोध पर श्री अरविन्द ने 'वन्देमातरम्' में दायित्व सम्भाल लिया और श्री पाल ने उनकी नीति को स्वीकार करके 'वन्देमातरम्' को साझा कम्पनी का रूप दे दिया था, भले ही अन्यों से मतभेद के कारण स्वयं अलग भी हो गए थे। इतिहास साक्षी है कि लोकमान्य तिलक, श्री विपिनचन्द्र पाल और श्री अरविन्द की त्रिवेणी ने इतिहास को नयी दिशा दी थी। स्वतन्त्र भारत में हम इन तीनों के प्रति जितने भी कृतज्ञ हों, कम है।

बंग-भंग की चर्चा पहले की जा चुकी है। तब का बंगाल आज के पश्चिमी बंगाल, बंगला देश, छोटा नागपुर सहित बिहार, आसाम व उड़ीसा का संयुक्त रूप था। इस क्षेत्र में राष्ट्रीय गतिविधियों का, केन्द्र देखकर मुस्लिम-बहुल उत्तरी व पूर्वी बंगाल के कुछ ज़िलों—चिटगांव विभाग के ज़िले तथा मेमनसिंह ज़िला—

को आसाम से मिलाकर एक नया प्रान्त 'पूर्वी बंगाल व आसाम' बनाने की योजना कर्जन नामक एक महत्त्वाकांक्षी व हठी वायसराय ने कुशल प्रशासन के नाम पर बनायी थी। वस्तुतः यह योजना भारत सरकार के सचिव, एच० एच० रिज़ले के द्वारा बंगाल-सरकार के मुख्य सचिव को भेजे गए एक पत्र (क्र० ३६७८, ३ दिसम्बर, १९०३) में प्रथम बार रखी गयी थी। १२ दिसम्बर, १९०३ के भारत सरकार के गज़ट में यह प्रकाशित हुई थी। उसमें कुशल प्रशासन के लिए प्रान्त को छोटे-छोटे दो प्रान्तों में तोड़ने की तर्कसंगत बात रखी गई थी किन्तु उसका मूल उद्देश्य बंगाली समाज में धर्म के आधार पर फूट डालकर राष्ट्रीय चेतना को दुर्बल बनाना था। इस योजना को अपमानजनक मानकर सारा बंगाल ही नहीं, सम्पूर्ण देश क्षुब्ध हो उठा। लगभग ४१ वर्ष पश्चात् बंग-विभाजन (तथा भारत-विभाजन) की कहीं अधिक घातक योजना माउंटबेटन ने कार्यान्वित की थी। बंग-विभाजन के समय अर्धजाग्रत भारत ने भी ब्रिटिश धूर्तता को पहचानकर भयंकर विरोध प्रकट किया था किन्तु १९४७ में जागृत कहा जाने वाला भारत भी सोया पड़ा रहा। आश्चर्य ! महान् आश्चर्य ! !

कर्जन की इस योजना का प्रारम्भ से ही विरोध हुआ। जनता कितनी क्षुब्ध थी इसका परिचय देते हुए श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने 'ए नेशन इन दी मेकिंग' में लिखा था—

"यह घोषणा बमवर्षा की तरह पड़ी तो जनता चकित रह गई। हमें लगा कि हम तिरस्कृत, अपमानित और प्रवंचित किए गए हैं। हमें लगा कि हमारा भविष्य संकट में है और यह बंगलाभाषी जनता में बढ़ती हुई आत्म-चेतना और एकता पर जान-बूझकर किया गया प्रहार है। इसे शासन-सम्बन्धी आवश्यकताओं के कारण ही क्यों न लागू किया गया हो, हमें लगा कि उसमें राजनीतिक गंध और रंग है और यदि उसे स्वीकृत होने दिया गया तो हमारी राजनीतिक उन्नति और हिन्दुओं व मुसलमानों की गहरी एकता के लिए घातक होगा, जिस पर भारत की उन्नति बहुत कुछ आधारित है !"

१९०४ के कांग्रेस-अधिवेशन (बम्बई) में अध्यक्षीय भाषण देते हुए सर हेनरी काटन ने, जो सात लेफ्टिनेंट गवर्नरों के शासनकाल में सेवा करके अवकाश प्राप्त कर चुके थे, कहा था कि कर्जन का "यह दायित्वहीन और निरंकुश प्रशासन" जन-विक्षोभ को तेजी से बढ़ाने वाला सिद्ध हो रहा है। कर्जन ने अपनी ज़िद में सब हितैषियों के परामर्श और राष्ट्रभक्तों के विरोध के प्रति उपेक्षा का ही व्यवहार किया और अपनी व्यवस्थापिका सभा में २० जुलाई, १९०५ को बंग-विभाजन को स्वीकृत कराके, २९ सितम्बर को गज़ट में विज्ञापित कराके, १६ अक्तूबर को कार्यान्वित कराने की दृढ़ता दिखाई। अपने सौभाग्य से कर्जन इसके पश्चात् ही कुछ मतभेदों के कारण त्यागपत्र देकर स्वदेश चला गया और अपनी मूर्खता के

परिणाम भोगने से वच गया। नए वायसराय मिण्टो के काल में दमन के वड़े प्रयत्नों के निष्फल हो जाने के पश्चात् यह मूर्खतापूर्ण विभाजन वापस ले लिया गया। किन्तु वंग-विभाजन ने राष्ट्र को जिस तरह झकझोर दिया था उसका इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान है। वंग-विभाजन के निर्णय के विरुद्ध स्वयं वंगाल में सहस्रों सभाएं हुईं—दिसम्वर १६०३ से जनवरी १६०४ तक ही ५०० विरोध-सभाएं हुई थीं। देश-भर में हुई अगणित विरोध सभाओं में वड़ौदा की सभा भी उल्लेखनीय है जहां श्री अरविन्द स्वयं उपस्थित थे, यद्यपि सरकारी सेवा में होने के कारण उन्होंने कोई भाषण नहीं दिया था। वंग-विभाजन के विरुद्ध राष्ट्रीय भावनाओं का उभार इतना अधिक वेगपूर्ण था कि श्री गोपाल कृष्ण गोखले जैसे शांत प्रकृति के उदारदलीय नेता ने कांग्रेस अधिवेशन (वाराणसी) में अध्यक्षीय भाषण में दिसम्वर १६०५ में असाधारण क्षोभ के साथ कहा था—"यह कितना सत्य है कि प्रत्येक वस्तु का अन्त होता ही है। इस प्रकार लार्ड कर्जन की वायसरायता समाप्ति पर आ गई है।...ऐसे प्रशासन की समानता पाने के लिए हमें अपने देश के इतिहास में औरंगज़ेव के काल तक जाना पड़ेगा...इस समय हम सवके मस्तिष्क में मुख्य प्रश्न वंग-भंग का है।...हमारे वंग-वन्धुओं के प्रति क्रूर अन्याय हुआ है और इसके परिणामस्वरूप राष्ट्र भर में अभूतपूर्व गहरा दुःख और घोर विरोध छा गया है। इस विषय में लार्ड कर्जन के आचरण के विषय में ठीक संयमपूर्वक वोल पाना कठिन है।" यही नहीं उन्होंने एक और भी महत्त्वपूर्ण वात कही थी—"हमारी राष्ट्रीय प्रगति के इतिहास में जनभावना की यह विशाल उथल-पुथल एक युगान्तरकारी घटना होगी। व्रिटिश शासन के प्रारम्भ से अभी तक पहली वार भारतीय समाज के सभी वर्ग, विना जाति-पंथ का भेद किए, एक सर्वसामान्य अन्याय का विरोध करने में सहकार्य के लिए एक सर्वसामान्य प्रेरणा से प्रेरित हो उठे हैं।"

श्री अरविन्द की दृष्टि में भी यही महत्त्वपूर्ण वात थी। उन्होंने अपने यतीन्द्र, वारीन्द्र तथा नए क्रांतिकारी सहयोगी श्री अविनाश भट्टाचार्य से व्यवस्थापिका सभा में विल पारित होते समय ही कह दिया था—"यह वहुत सुन्दर अवसर है। विभाजन-विरोधी आन्दोलन को शक्तिशाली ढंग से चलाओ। आन्दोलन के लिए हमें वहुत लोग मिलेंगे।" तव श्री अरविन्द वड़ौदा में ही थे परन्तु क्रांतिकारी संगठन के सम्वन्ध में वंगाल पहुंचे हुए थे। उसी समय उन्होंने 'कोई समझौता नहीं' शीर्षक से एक पुस्तिका लिखी थी जिसे छापने का साहस कोई प्रेस नहीं कर पाया। तव श्री अविनाशने ही एक महाराष्ट्रीय क्रांतिकारी से अपने घर में कम्पोज़ कराके रात्रि में कहीं छपवा कर सहस्रों प्रतियां निःशुल्क वितरित की थीं।

श्री अरविन्द ने स्वर्णिम अवसर को ठीक पहचाना था। यों तो कांग्रेस के अधिवेशन में श्री गोखले वंग-भंग पर क्षोभ प्रकट कर चुके थे किन्तु नरमपंथी होने

के कारण वे ब्रिटिश शासन के विरुद्ध कड़े पग उठाने को कैसे तैयार हो सकते थे। हेनरी नेविसन नामक ब्रिटिश संसद-सदस्य ने उस समय के भारतीय नेताओं की मन:स्थिति का अध्ययन किया था। वह श्री अरविन्द से भी मिला था। उसकी कृति 'दी न्यू स्प्रिट इन इण्डिया' में उस काल की जनभावना का सजीव चित्रण किया गया है और श्री अरविन्द की वंग-विभाजन पर प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए कहा गया है—"वह वंग-विभाजन को भारत के लिए अभूतपूर्व वरदान मानते थे। गत वर्षों के आलस्य को इतने आकस्मिक रूप में दूर करके राष्ट्रीय भावना को झकझोर देने वाला और कोई कार्य नहीं हो सकता था।...जब देशभक्ति मृत प्रतीत हो रही है, इस अपमान ने उसे पुनर्जीवित कर दिया, और नये दल की सारी नीति का लक्ष्य उस कार्य को आगे बढ़ाना था जिसे लार्ड कर्जन ने राष्ट्रीय चरित्र व आत्मा के पुनर्जीवन के लिए इतनी सफलतापूर्वक प्रारम्भ किया था।"

यह नया दल श्रीअरविन्द का उग्रवादी अर्थात् राष्ट्रवादी दल था जिसने बंगाल की राजनीति में महत्त्वपूर्ण कार्य किया था। वाराणसी के कांग्रेस-अधिवेशन में श्री गोखले और उनका दल बंगाल में विरोधस्वरूप अपनाए गए 'स्वदेशी' व 'बहिष्कार' नामक आन्दोलनों में से 'स्वदेशी' का समर्थन तो कर रहे थे परन्तु देशव्यापी 'बहिष्कार' के स्थान पर केवल बंगाल तक सीमित बहिष्कार पर ही सहमत हो सके। किन्तु कुल मिलाकर राष्ट्रवादियों की यह बड़ी विजय हुई। साथ ही, यह भी स्पष्ट हो गया था ऊपर से भले ही नरमपंथी भी वंग-भंग-आन्दोलन में सम्मिलित हैं परन्तु वे बहुत आगे तक जाने में असमर्थ हैं और नेतृत्व शीघ्र ही राष्ट्रवादी दल को मिल जाएगा।

इसी समय एक महाराष्ट्रीय लेखक श्री देउस्कर की बंगला कृति 'देशेर कथा' प्रकाशित हुई जिसमें विदेशी शासन में भारत के आर्थिक शोषण तथा उससे ब्रिटेन की समृद्धि का विस्तृत एवं प्रभावी चित्रण किया गया था। बंगाल के युवकों के हृदयों और मस्तिष्कों पर छा जाने वाली इस पुस्तक को सरकार ने जब्त कर लिया। श्री अरविन्द के अनुसार—"इस पुस्तक का बंगाल पर भारी प्रभाव पड़ा। इसने बंगाली युवक के मन को मुग्ध कर लिया और स्वदेशी आन्दोलन की तैयारी में सबसे अधिक सहायता पहुंचाई।"

वंग-विभाजन के पश्चात् १९०६ में होने वाले कलकत्ता के कांग्रेस अधिवेशन का ऐतिहासिक महत्त्व है। श्री अरविन्द बड़ौदा त्याग कर अगस्त १९०६ में नेशनल कालिज में प्रिंसिपल हो गए थे और बहुत शीघ्र ही वे 'वन्देमातरम्' के संपादक-मंडल के अंग बन गए थे और अंग ही क्या, वस्तुतः नीतिनिर्देशक व प्रधान सम्पादक ही। इस बीच व्यस्तता बढ़ जाने से उनकी पहले की दिनचर्या तो अस्त-व्यस्त हो गई, प्राणायाम और योग-साधना सब राष्ट्र-साधना के कारण छूट-छाट गए। शरीर पर इसका बुरा प्रभाव पड़ा और श्री अरविन्द बीमार हो

गए। अक्तूवर से दिसम्वर प्रारंभ तक का समय रोग ने खा लिया। वे इस बीच प्राय: अपने श्वसुर के घर पर कलकत्ता में ही रहे थे। स्थान-परिवर्तन के लिए अन्त में कुछ दिन देवघर रहने के पश्चात् वे २६ दिसम्वर को कांग्रेस-अधिवेशन प्रारम्भ होने से कुछ दिन पहले ही कलकत्ता वापस आ गए।

इसके पहले १६०५ के (वाराणसी) कांग्रेस-अधिवेशन में उदारपंथी कांग्रेस को राष्ट्रवादी नेता वड़ी कुशलता से अंग्रेज-विरोध में ला चुके थे। देश में वंग-भंग-विरोधी चेतना के सामने उदारपंथी घवड़ाए हुए थे क्योंकि श्री गोखले सदृश नेता ईमानदारी से यह मानते थे कि अंग्रेज़ी राज्य ईश्वरीय वरदान है और उसकी समाप्ति भारत का सर्वनाश, अत: वे राष्ट्रवादी दल की नीतियों से भारत को प्रभावित देखना नहीं चाहते थे। किन्तु स्वदेशी और विदेशी वस्तुओं के वहिष्कार का आन्दोलन वंगाल में तीव्र होता चला गया और देश-भर में वातावरण राष्ट्रवादी राजनीति के पक्ष में होता-सा दिखाई देने लगा। उसी समय वंगाल से श्री विपिनचन्द्र पाल, श्री अरविन्द आदि ने कलकत्ता-कांग्रेस में अध्यक्ष पद के लिए लोकमान्य तिलक का नाम प्रस्तावित किया। घवराए हुए उदारपंथी लोगों के सामने अव एक ही मार्ग था—इंग्लैण्ड से दादाभाई नौरोजी को अध्यक्षता के लिए वुलाना क्योंकि लोकमान्य तिलक का दल उस 'पितामह' के नाम पर ही चुप किया जा सकता था।

श्री दादाभाई नौरोजी और लोकमान्य तिलक दोनों ही महान् राष्ट्रभक्त थे। किन्तु राष्ट्र को लोकमान्य के नेतृत्व में स्वातंत्र्य की ओर तेज़ी से वढ़ाना ही युग की आवश्यकता थी। भारत का भविष्य उसी पर निर्भर करता था कि अव नेतृत्व उदारपंथियों के हाथ में रहेगा या राष्ट्रवादियों के हाथ में। श्री अरविन्द ने 'वन्देमातरम्' में २६ दिसम्वर १६०६, में 'दी मैन आफ़ दी पास्ट एण्ड दी मैन आफ़ दी फ्यूचर' (अतीत का नेता और भविष्य का नेता) शीर्षक लेख अत्यन्त मंजी हुई भाषा में लिखकर इसी दिशा में मार्गदर्शन किया था। उसी दिन कांग्रेस अधिवेशन प्रारम्भ होने वाला था।

इस लेख में श्री अरविन्द ने प्रारम्भ में लिखा था—"नेशनल कांग्रेस के वर्तमान अधिवेशन के लिए, पधारे हुए इस काल के दो व्यक्ति जनता की दृष्टि में विशिष्ट हैं। इनका ठीक एक के पश्चात् दूसरे का आगमन वर्तमान परिस्थिति में हमारे लिए अर्थपूर्ण है। दोनों निष्ठावान देशभक्त हैं, दोनों ने अपने देशवासियों तथा जन्मभूमि के लिए अपने कर्त्तव्य का पालन किया है; दोनों अदम्य धैर्य तथा उच्च योग्यता से सम्पन्न हैं, किन्तु समानता यहीं समाप्त हो जाती है।" दोनों का अन्तर वताते हुए श्री अरविन्द ने लिखा था—"उनमें से एक है थकित और वृद्ध, अर्द्धशताव्दी भर के कार्यों व परिश्रमों के वोझ से झुका हुआ, अतीत का नेता, उस पीढ़ी का स्मरण कराने वाला जो वीत रही है, उन आदर्शों का स्मरण कराने

वाला जिनका आकर्षण समाप्त हो चुका है, उन विधियों का स्मरण कराने वाला जो व्यर्थ सिद्ध हो चुके हैं, एक शक्ति और आशा जो कभी उल्लासपूर्ण और जीवन से परिपूर्ण थे, किन्तु जो अब एक श्रान्त और जर्जर वृद्धावस्था में छाया-तुल्य रह रहे हैं, अभी भी निर्मूल सिद्धहो चुकी बातों तथा मृत सूत्रों का प्रलाप करने वाला।" यह श्री नौरोजी का वर्णन था और लोकमान्य के लिए कहा गया था—"दूसरा आता है प्रभात की ओर मुख किए, शक्ति व साहस में भीम तथा अपने उन्नत कन्धों पर हमारे भविष्य का भारी बोझ धारण किए हुए।" श्री नौरोजी के भाषण में मरणशील अतीत का अन्तिम स्वरही मिलने की आशा थी जबकि तिलक में भविष्य के भारत की मुखरता की—"श्री तिलक से न तो हम किसी महान् भाषण की आशा करते हैं और न किसी उत्तेजनापूर्ण घोषणा की, उनकी तो उपस्थिति ही बड़ी से बड़ी घोषणाओं से बढ़कर है, क्योंकि अपने स्पष्ट तीक्ष्ण कथनों के होते हुए भी उनका महत्त्व वक्ता के रूप में नहीं है, और 'केसरी' के सम्पादक के रूप में महाराष्ट्र के राजनीतिक आदर्श पर भारी प्रभाव रखते हुए भी उनका महत्त्व लेखक के रूप में भी नहीं है, अपितु ऐसे व्यक्ति के रूप में है जो यह जानता है कि क्या किया जाना चाहिए और उसे करता है, जो यह जानता है कि क्या संघटित किया जाना चाहिए और उसे संगठित करता है, जो जानता है कि किस का प्रतिरोध किया जाना चाहिए और उसका प्रतिरोध करता है। सर्वोत्कृष्ट रूप में वे वह व्यक्ति हैं जो कार्य करता है और हमारी भावी राजनीतिक शक्तियों का वैशिष्ट्य कार्य ही होता है।"

श्री अरविन्द ने श्री दादाभाई नौरोजी के व्यक्तित्व के प्रति पूर्ण आदर रखते हुए उनके नेतृत्व का गुण-दोष-विवेचन अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया था। वे लिखते हैं—"दूसरी ओर श्री दादाभाई वह व्यक्ति हैं जो प्रतिवाद करता है, उनका सम्पूर्ण जीवन पुस्तकों, सार्वजनिक भाषणों, पत्रों व लेखों के द्वारा एक उद्यमी व सतत प्रतिवाद में ही व्यतीत हुआ है। प्रतिवाद, न कि कार्य, ही अतीत में हमारी राजनीतिक शक्तियों का वैशिष्ट्य रहा है। उस पुराने सिद्धान्त के अनुसार कार्य तो भारत या ब्रिटेन की सरकार का परमाधिकार था और हमारा एक ही कर्तव्य था कि उनसे न्यायपूर्वक न कि अन्यायपूर्वक और हमारे हित में न कि अपने हित में कार्य करने का आग्रह करते रहें। हमने उनके देवता होने की आशा की थी…।" निस्सन्देह युवक भारत यह आश्चर्य करता है कि इतने बड़े विद्वान् इस मृग-मरीचिका में क्यों पड़े रहे थे। क्या उन्होंने इतिहास नहीं पढ़ा था? "किन्तु जब श्री नौरोजी ने राजनीतिक जीवन प्रारंभ किया था, तब इससे अधिक वास्तविक और ठोस कुछ संभव ही नहीं था।" मराठा व सिख शक्तियों की पराजय के उप-रान्त "यह अपरिहार्य हो गया था कि राष्ट्र को पुनर्जीवित करने का कार्य अंग्रेज़ी विद्यालयों में शिक्षित तथा अंग्रेज़ी पद्धतियों से चिन्तन करने की शिक्षा पाए एक

छोटे से वर्ग के हाथों में जा पड़े। इन लोगों ने हमारे देश की एकमात्र महान् सेवा यह की कि हमें एक बार पुनः आशा करने तथा राजनीतिक रूप में जीने का अभ्यास दिया।···उनके पास अपने अंग्रेज़ शिक्षकों से सिद्धान्तों व विचारों को ऋण लेने के अतिरिक्त मार्ग ही नहीं था।" वे योग्य भी थे, गुणी भी थे परन्तु अनुभव बिना भी सत्य को देखने वाली प्रतिभा का उनमें अभाव अवश्य था।

श्री अरविन्द ने श्री नौरोजी का वैशिष्ट्य बताते हुए कहा था कि पिछली पीढ़ी के लोगों में वे ही एक व्यक्ति ऐसे निकले जिन्होंने छोटी-मोटी चीज़ों में शक्ति नष्ट करने के स्थान पर भारत की भयंकर निर्धनता और ब्रिटिश शासन में उसकी तेज़ी से वृद्धि पर सभी का ध्यान केन्द्रित करने के लिए निरन्तर परिश्रम किया। राष्ट्र यदि यह समझ ले तो ब्रिटिश शासन ही भारत की निर्धनता का कारण है यह समझना कठिन नहीं होगा और तब अनिवार्य निष्कर्ष यह होगा कि ब्रिटिश या ब्रिटिश-नियंत्रित शासन को हटाकर अपना शासन लाया जाए। श्री नौरोजी ने प्रथम कार्य किया है "और इसके लिए भारत उनके प्रति पुराने जीवित व मृत राजनीतिज्ञों में सबसे अधिक ऋणी है।" श्री नौरोजी तीसरी बात को भी साहसपूर्वक कह सकते थे। परन्तु उन्होंने नहीं कही—"तथापि यह एक ऐसी बात है जो उनके समान अवस्था व परम्पराओं वाला व्यक्ति निर्भीकतापूर्वक घोषित कर सकता था कि विदेशी शासन से मुक्ति ही भारतीय राजनीति का नियामक आदर्श होना चाहिए। जो व्यक्ति यह घोषणा करने के लिए उत्तरदायी है, उसे नरमपंथी (माडरेट) नहीं रहना चाहिए। कम से कम उसका हृदय हमारे साथ होना चाहिए। हम विश्वासपूर्वक यह भविष्यवाणी नहीं कर सकते कि भारत में तथा कांग्रेस-अध्यक्ष के पद से उनका स्वर हमारे पक्ष में ही होगा। यदि ऐसा हो, तो उनकी सम्मान्य अनुज्ञा हमारे प्रयत्नों का समर्थन होगी; यदि ऐसा न हो तो उनका प्रतिवाद या विरोध हमारी अंतिम विजय में बाधक नहीं बन सकेगा। जिस बात को समय और भाग्य करना चाहें, कितने भी प्रतिष्ठित व सम्मानित व्यक्तियों के वक्तव्यों से उसे विलम्बित या परिवर्तित नहीं किया जा सकता।"

इस प्रकार सम्पूर्ण लेख में श्री अरविन्द ने भविष्य की भारतीय राजनीतिक गतिविधि की दिशा स्पष्ट कर दी थी और वह भी पिछली कार्यपद्धति के प्रति उचित आदरपूर्वक।

२६ दिसम्बर से २९ दिसम्बर तक चलने वाला यह अधिवेशन पिछले सभी अधिवेशनों से बड़ा था—१६६३ प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। राष्ट्रवादी नेताओं में लोकमान्य तिलक तो थे ही, लाला लाजपतराय, श्री खापर्डे, श्री खरे इत्यादि भी थे। स्वागत समिति, कार्यकारिणी समिति तथा विविध प्रान्तों के कार्यकर्ताओं से हुई बैठकों इत्यादि में तिलक इत्यादि के साथ ही श्री अरविन्द की कार्यकुशलता, दौड़-धूप इत्यादि के परिणामस्वरूप अन्ततः कांग्रेस के लक्ष्य के रूप में 'स्वराज'

की घोषणा कर ही दी गई। एक प्रस्ताव पारित करके विधिवत् 'स्वराज' की स्थापना को कांग्रेस का लक्ष्य घोषित किया गया। यही नहीं स्वदेशी, वहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव भी पारित हुए। इन प्रस्तावों में भी राष्ट्रवादी दल की विचारधारा की ही विजय हुई थी। श्री दादाभाई नौरोजी ने यह देखते हुए भी कि सर फीरोज़शाह मेहता, श्री गोखले तथा श्री सुरेन्द्रनाथ वनर्जी जैसे बड़े व्यक्ति 'स्वराज' के प्रस्ताव के पक्ष में नहीं हैं, अन्ततः प्रस्ताव को इसलिए पारित हो जाने दिया कि वंगाल तथा अन्य प्रान्तों का उसे भारी समर्थन था। निस्सन्देह श्री दादाभाई नौरोजी को यह श्रेय है कि उन्होंने इस अवसर पर ही कांग्रेस के दोनों दलों को टकराकर विभक्त हो जाने का अवसर नहीं दिया।

श्री अरविन्द ने ३१ दिसम्वर, १९०६ को 'वन्देमातरम्' के 'दी रिज़ल्ट्स आफ़ दी कांग्रेस' शीर्षक लेख में वड़ी विद्वत्तापूर्वक इस अधिवेशन की उपलब्धियों की मीमांसा की थी। उन्होंने लिखा था कि ऐंग्लो-इण्डियन पत्रों की यह धारणा है कि उग्रवादी लोगों के व्यवहार के कारण कांग्रेस विभक्त हो जाएगी, मिथ्या सिद्ध हुई है। उदारपंथी भारतीयों की यह आशंका भी मिथ्या सिद्ध हुई है कि गरम-गरम प्रस्तावों को पारित किया जाएगा। "वर्तमान सम्मेलन में सवसे अधिक उल्लेखनीय वस्तु थी इसकी निरंकुशता-विरोधी प्रकृति और प्रचण्ड शक्ति जिससे इसने मान्य नेताओं के प्रभुत्व से निर्देश पाने का हर प्रयत्न अस्वीकार कर दिया था। इस वर्ष के सम्मेलन पर श्रद्धा की कमी तथा ऊधमवाज़ी के आरोप स्वच्छन्दता-पूर्वक लगाए गए हैं। पहले आरोप का उत्तर यह है कि अव श्रद्धा, व्यक्तियों पर से हटकर मातृभूमि के आदर्श पर स्थानान्तरित हो गई है; अव यह संभव नहीं रहा है कि फीरोज़शाह मेहता या श्री दादाभाई नौरोजी भी राष्ट्र के प्रतिनिधियों पर अपनी उपस्थिति व प्रभुत्व से खामोशी या मौन स्वीकृति लाद दें, क्योंकि प्रति-निधि यह अनुभव करते हैं कि उन्हें अपने देश के प्रति और भी अधिक गहरी श्रद्धा रखनी है तथा और भी अधिक ऊंचा कर्तव्य मानना है। अव से तो नेता भी श्रद्धा के पात्र तभी हो सकते हैं जव वे अपने देश के प्रमुख सेवकों की भावना से कार्य करें, न कि मालिकों और तानाशाहों की भावना से। ऊधमवाज़ी के आरोप का यही अर्थ है कि कांग्रेस ने इस वार निर्जीव सहमति तथा यांत्रिक करतल-ध्वनियों के स्थान पर वास्तविक रुचि और वास्तविक भावना के सजीव चिह्न प्रदर्शित किए हैं।"

व्यक्तिवादी नेतृत्व के ऊपर राष्ट्रवादी नेतृत्व, जनवादी नेतृत्व की स्थापना की तीक्ष्ण घोषणा करते हुए श्री अरविन्द ने फीरोज़शाह मेहता पर व्यंग्य करते हुए लिखा था—"वम्वई कारपोरेशन के सिंह को ज्ञात हुआ कि वंगाल में उससे अधिक शक्तिशाली सिंह जागृत हो गया है अर्थात् जनता।"

श्री अरविन्द ने इस लेख के अन्त में श्री नौरोजी के समापन-भाषण की प्रशंसा करते हुए लिखा था—"उन्होंने स्वशासन, जिसे उन्होंने एक प्रेरणापूर्ण क्षण में 'स्वराज' की संज्ञा दी, हमारा एकमात्र आदर्श है इसकी पुनः घोषणा की और उसे प्राप्त करने के लिए तरुणों का आह्वान किया। इन वयोवृद्ध व्यक्तियों ने एक ऐसी पीढ़ी को तैयार करने में जो इस महान् आदर्श—और उससे कुछ भी कम नहीं—की प्राप्ति के लिए संकल्पबद्ध हों, अपना कार्य पूर्ण कर दिखाया है, इस आदर्श को साकार करने का कार्य हमारा है। हम श्री नौरोजी के आह्वान को स्वीकार करते हैं और उनके अंतिम आदेशों की पूर्ति के लिए अपने जीवन समर्पित करेंगे, और यदि आवश्यकता हुई तो बलिदान भी करेंगे।"

१३. नया वज्र

"पुराणमित्येव न साधु सर्वम् ।"

—कालिदास कृत मालविकाग्निमित्र (१/२)

(प्राचीन होने से ही सब ठीक नहीं होता ।)

"न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति वसुधातलात्"

—कालिदास कृत 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' (१/२४)

(चमकदार बिजली भूतल से नहीं निकलती ।)

'वन्देमातरम्' के माध्यम से श्री अरविन्द बंगाल ही नहीं, सम्पूर्ण देश को आन्दोलित करने का प्रयत्न कर रहे थे। जिस प्रकार बंकिमचन्द्र का 'वन्देमातरम्' गीत राष्ट्रीयता का मंत्र हो गया था, उसी प्रकार 'वन्देमातरम्' पत्र राष्ट्रभक्तों का मार्गदर्शक बन रहा था। १९०५ में वह 'वन्देमातरम्' मंत्र के रूप में प्रतिष्ठित हुआ और यह 'वन्देमातरम्' १९०६ में जन्म से ही प्रतिष्ठा प्राप्त कर गया। वह वन्देमातरम् ७ अगस्त, १९०५ को कलकत्ता टाउनहाल की जनसेवा में, जो बहिष्कार व स्वदेशी के प्रस्तावों को पारित करने के लिए आयोजित थी, सहस्रों कण्ठों से उच्चरित होकर धरती से आकाश तक छा गया और यह 'वन्देमातरम्' ६ अगस्त, १९०६ से चलकर श्री विपिनचन्द्र पाल, श्री श्यामसुन्दर चक्रवर्ती, श्री हेमेन्द्र प्रसाद घोष, श्री विजयचन्द्र चटर्जी तथा सर्वोपरि श्री अरविन्द के सम्मिलित प्रयत्नों के फलस्वरूप अक्तूबर १९०८ तक के अल्प जीवन में ही अमर हो गया।

'वन्देमातरम्' का एक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। लोकमान्य तिलक ने महाराष्ट्र को जगाने के लिए जो विधियां अपनाई थीं, उनकी भावना को अधिक तीक्ष्ण रूप में बंग-भंग-विरोधी बंगाली आन्दोलन में स्वदेशी, बहिष्कार और निष्क्रिय प्रतिरोध के रूप में नई विधियों से प्रस्तुत किया गया और शीघ्र ही सारे भारत ने आश्चर्यचकित होकर उनकी महत्ता को स्वीकार ही नहीं किया, भविष्य में महात्मा गांधी ने भी उनका ही शस्त्र रूप में प्रयोग किया, यद्यपि अपने ढंग से। वस्तुतः स्वराज, राष्ट्रीय शिक्षा, स्वदेशी और बहिष्कार को 'वन्देमातरम्' ने अत्यंत सफलतापूर्वक प्रचारित किया और श्री विपिनचन्द्र पाल के द्वारा आविष्कृत 'निष्क्रिय

प्रतिरोध' के विचार को श्री अरविन्द ने ही व्यावहारिक रूप दिया और यह सव कुछ श्री अरविन्द ने 'वन्देमातरम्' के माध्यम से किया था।

'वन्देमातरम्' के माध्यम से नए राजनीतिक चिन्तन की अभिव्यक्ति हुई और राष्ट्रवादी धारा का यह दैनिक (वाद में साप्ताहिक) मुखपत्र शीघ्र ही भारत का एक मान्य पत्र वन गया था। श्री विपिनचन्द्र पाल के शब्दों में —"उसे प्रारम्भसे ही अरविन्द की प्रतिभा का स्पर्श मिला। निर्भीक दृष्टिकोण, ओजपूर्ण चिन्तन, स्पष्ट विचार, हृदयस्पर्शी शैली, तीखा व्यंग्य और परिमार्जित वाक्‌चातुर्य सभी में वह अद्वितीयथा। देश काकोईभी भारतीय या ऐंग्लो-इण्डियन समाचारपत्र उसकी समता नहीं कर सकता था। उससे प्रेरित होकर प्रत्येक वंगला पत्र का स्वर वदल गया और विरोधी ऐंग्लो-इण्डियन सम्पादक भी उसकी प्रशंसा करने को वाध्य हो गए। केवल कलकत्ता का ही नहीं, देश-भर का शिक्षित समाज समसामयिक उत्तेज्क प्रश्नों पर उस पत्र के विचारों की उत्सुकता से प्रतीक्षा करने लगा।…वह देश की एक ऐसी शक्ति वन गया, जिसके प्रति कितनी ही भय या घृणा की भावना के होते हुए भी जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती थी और अरविन्द ही उस पत्र के केन्द्रविन्दु थे, उसकी आत्मा थे।"

हां, श्री अरविन्द ही उसकी आत्मा थे। वे राष्ट्रवादी दल के नए चिन्तन के असाधारण चिन्तक थे, यद्यपि श्री विपिनचन्द्र पाल की मौलिकता सर्वमान्य है। श्री अरविन्द ने 'दी डान' नामक पत्र के सम्पादक श्री सतीशचन्द्र मुकर्जी के लेख से प्रारम्भ होने वाली लेखमाला के 'निष्क्रिय प्रतिरोध' पर लिखे गए वाद के सात लेखों तथा तदनन्तर लिखे गए 'दी न्यू थाट' (नवचिन्तन) लेखमाला के छह लेखों में नरमदलीय नेताओं के विचारों का खोखलापन सिद्ध करके अपनी विचारधारा का प्रशंसनीय ढंग से प्रतिपादन किया था। उपर्युक्त में से पहले सात लेख 'पैसिव रेसिस्टेंस' (निष्क्रिय प्रतिरोध) नाम से पुस्तकाकार छप चुके हैं और वाद के छह लेख सर्वश्री हरिदास मुकर्जी तथा उमा मुकर्जी की कृति 'श्री अरविन्द एण्ड दी न्यू थाट इन इण्डियन पालिटिक्स' में प्रकाशित देखे जा सकते हैं।

निष्क्रिय प्रतिरोध पर लिखे गए लेख ११ अप्रैल से २३ अप्रैल १९०७ के मध्य प्रकाशित हुए थे और 'नवचिन्तन' के लेख २५ अप्रैल से २ मई १९०७ के मध्य। वस्तुतः 'निष्क्रिय प्रतिरोध' ही कालान्तर में गांधीजी के कारण 'सत्याग्रह' नाम पा गया। 'सत्याग्रह' का सैद्धान्तिक स्वरूप प्रस्तुत करने वाली लेखमाला में श्री अरविंद ने अनेक महत्त्वपूर्ण वातें लिखी थीं। उन्होंने कहा था कि कांग्रेस द्वारा कलकत्ता-अधिवेशन में घोषित 'स्वराज' का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए तीन ही मार्ग संभव हैं—विदेशी शासन से निवेदन करने की पद्धति अथवा आत्मविकास तथा आत्म-सहायता अथवा विदेशी शासन के विरुद्ध संगठित प्रतिरोध। "राजशक्ति के समर्थन के विना राष्ट्रीय आत्मविकास संभव ही नहीं है…राजनीतिक स्वातंत्र्य राष्ट्र का

प्राण है; जाति के राजनीतिक स्वातन्त्र्य को प्रथम और सर्वोच्च लक्ष्य वनाए विना सामाजिक सुधार, शैक्षणिक सुधार, औद्योगिक विस्तार, नैतिक सुधार का प्रयत्न, अज्ञान और व्यर्थता की पराकाष्ठा है। ऐसे प्रयत्नों का परिणाम निराशा और असफलता तो होगा ही, परन्तु हम इसका कारण राष्ट्रीय चरित्र में कोई भारी दोष मानने लगते हैं; मानो कि राष्ट्र गलती पर हो न कि इसके वे बुद्धिमान लोग…।" इन बुद्धिमानों का दोष वताते हुए श्री अरविन्द ने लिखा था कि वे सुधार में सफलता पाने के लिए प्रथम आवश्यकता 'स्वतन्त्रता' तथा द्वितीय आवश्यकता 'सुदृढ़ केन्द्रीय सत्ता में व्यक्त राष्ट्रीय संकल्प' से अनभिज्ञ हैं। श्री अरविन्द ने राष्ट्र के आत्मविकास को विना परनिर्भरता के अपरिहार्य माना था और परतन्त्रता के काल में उसमें होने वाली कठिनाइयों को सहन करके भी आत्मविकास के पथ पर बढ़ना आवश्यक कहा था। और इसके लिए धीरे-धीरे सभी क्षेत्रों में विदेशी सत्ता को अपना हाथ हटाने को वाध्य करने के लिए प्रतिरोध संगठित करने का संदेश दिया था।

श्री अरविन्द हिंसात्मक उपायों से भी राष्ट्रीय स्वातन्त्र्य पाना ठीक मानते थे और पाण्डीचेरी जाने के वाद भी वे गांधी जी के अहिंसा के राजनीतिक सिद्धान्तवाद के प्रशंसक नहीं वने। किन्तु, साथ ही यह भी समझ लेना महत्त्वपूर्ण है कि वे अव्यावहारिक स्वप्नद्रष्टा नहीं थे। सशस्त्र विद्रोह के छुट-पुट प्रयोगों के द्वारा अंग्रेज़ों को भगाने में सफलता मिल जाएगी, यह वे नहीं मानते थे। इस कारण वंग-भंग के उस तनावपूर्ण काल में भी तथा क्रान्तिकारियों का मार्गदर्शन करते हुए भी उन्होंने तत्कालीन परिस्थिति में व्यापक एवं प्रभावी हो सकने वाले शस्त्र के रूप में ही 'प्रतिरक्षात्मक प्रतिरोध' के मार्ग को सामने रखा था। यहां यह भी कह देना आवश्यक है कि उन्हें इस विचार की मौलिकता का श्रेय तो नहीं दिया जा सकता क्योंकि १३ जुलाई, १९०५ में वहिष्कार का आह्वान श्री कृष्णकुमार मित्र संजीवनी में कर ही चुके थे। परन्तु इसमें कोई सन्देह नहीं कि उन्होंने सुविचारित रूप में इसका सैद्धान्तिक प्रतिपादन व विश्लेषण करने में तथा उसे क्रियात्मक रूप देने में असाधारण प्रतिभा का परिचय दिया था और मात्र आर्थिक वहिष्कार से उसे पंचविध बहिष्कार तथा एक शस्त्र वना दिया था। विदेशियों द्वारा अपने स्वार्थों को ध्यान में रखकर वनाए गए कानूनों को तोड़ने में 'नैतिकता की हानि' के भय को उन्होंने इस सिद्धान्त के प्रतिपादन में निर्मूल सिद्ध कर गांधी जी से वहुत पहले और वहुत स्पष्ट रूप में जनचेतना का व्यापक जागरण किया था—"जनता द्वारा स्वयं पर लगाए गए कानून में एक वांधने वाला वल होता है जिसका उल्लंघन अत्यधिक आवश्यकता के अतिरिक्त कभी नहीं किया जा सकता : वाहर से थोपे गए कानून में ऐसा कोई नैतिक आदेश नहीं होता…।" श्री अरविन्द ने आक्रामक प्रतिरोध का पहला सिद्धान्त रखा था 'वहिष्कार' और

इसकी व्याख्या करते हुए कहा था—"वर्तमान परिस्थितियों में प्रत्येक ऐसा कार्य, जिससे ब्रिटिश वाणिज्य को हमारे देश के शोषण में या ब्रिटिश अधिकारीवर्ग को देश पर शासन में, सहायता मिलेगी, करने से तब तक केलिए सुसंगठित 'न' कह दी जाए जब तक जनता की मांग के अनुसार विधि और सीमा दोनों में ही परिस्थितियां परिवर्तित न हो जाएं।"

'वहिष्कार' के सिद्धान्त की सफलता के लिए श्री अरविन्द ने सरकारी हित-साधन के पांच क्षेत्रों में, सक्रिय होने के लिए प्रतिरक्षात्मक प्रतिरोधकर्ताओं का आवाहन किया था। इन पांच क्षेत्रों में वहिष्कार हो जाने पर ब्रिटिश व्यापारी स्वार्थों तथा शासनिक स्वार्थों को तो धूल चाटनी ही थी, भारत का आर्थिक, सामाजिक व आध्यात्मिक अधःपतन भी रुकना निश्चित था। ये पांच वहिष्कार थे—आर्थिक वहिष्कार, शैक्षिक वहिष्कार, न्यायालय-वहिष्कार, कार्यपालिका-वहिष्कार तथा सामाजिक वहिष्कार।

आर्थिक वहिष्कार के विषय में उन्होंने रूपरेखा वताते हुए कहा था कि विदेशियों द्वारा अपने शोषण को रोकने केलिए "हम अब से विदेशी माल विशेषकर ब्रिटिश, न स्वयं खरीदेंगे और न दूसरों को खरीदने देंगे। ब्रिटिश माल का संगठित और पूर्ण वहिष्कार करके हम देश का और अधिक शोषण असंभव वना देना चाहते हैं।" यह तो नकारात्मक स्वरूप था, भावात्मक स्वरूप था—'स्वदेशी' अर्थात् स्वदेश में आवश्यक वस्तुओं को तैयार करना। वहिष्कार और स्वदेशी के परस्परावलम्वन को भी उन्होंने स्पष्ट कर दिया था। अवश्य ही इस आर्थिक वहिष्कार और स्वदेशी आन्दोलन का देश पर गंभीर प्रभाव पड़ा। हिन्दू-मुसलमान, शिक्षक-विद्यार्थी, सभी वर्गों के वंगाली लोगों तथा प्रायः हर प्रकार के नेताओं ने इस आन्दोलन में एकता के साथ कार्य किया। इसी आन्दोलन के परिणामस्वरूप देशी वस्त्रों के प्रयोग तथा अन्य उद्योग-धन्धों के निर्माण की वाढ़-सी आ गई।

इसी प्रकार शैक्षिक वहिष्कार का अर्थ था अंग्रेज़ी विद्यालयों, कालिजों, विश्वविद्यालयों का वहिष्कार करना। अरविन्द ने लिखा था—"जिन हालतों में शिक्षा इस देश में दी जा रही है उससे भी हम असंतुष्ट हैं। इसकी जानबूझकर वनाई गई हीनता और अपर्याप्तता से, इसकी राष्ट्रविरोधी प्रकृति से, इसकी सरकारी अधीनता से और उस अधीनता का प्रयोग देशभक्ति को निरुत्साहित किए जाने और राजभक्ति उत्पन्न किए जाने से भी हम असंतुष्ट हैं। तदनुसार हम अपने वालकों को सरकारी विद्यालयों या सरकार द्वारा सहायता प्राप्त और नियमित विद्यालयों में भेजने से इनकार करते हैं। यदि यह शैक्षिक वहिष्कार व्यापक और सुसंगठित हो जाए तो देश में शिक्षा-सम्वन्धी प्रशासन असंभव हो जाएगा और हृदयों पर से विदेशी का प्रभाव उठ जाएगा।" और इस नकारात्मक पग के साथ ही भावात्मक पग था राष्ट्रीय विद्यालयों व कालिजों की स्थापना। शैक्षिक वहि-

ष्कार भी अत्यन्त सफल रहा और उसके सुन्दर परिणाम देखने में आए।

न्यायालय-बहिष्कार के सम्बन्ध में श्री अरविन्द ने लिखा था—"हम न्याय-व्यवस्था से, दीवानी न्यायालयों के विनाशकारी महंगेपन, फौजदारी अदालतों के कठोर दण्ड-विधान और कार्यविधि की नृशंसता, पक्षपात और राजनीतिक उद्देश्यों के लिए न्याय की बलि देने की रीति से असंतुष्ट हैं। अतः हम विदेशी न्यायालयों की शरण में जाने से इनकार करते हैं और जब तक ये परिस्थितियां विद्यमान हैं तब तक हम न्यायालयों का संगठित बहिष्कार करके लालफ़ीताशाही, न्याय-प्रशासन को असंभव बनाने को कृतसंकल्प हैं।" न्यायालय-बहिष्कार के साथ भावात्मक पग था पंचायतों की स्थापना। किन्तु इस बहिष्कार का सीमित प्रयोग ही हो सका क्योंकि सरकारी दमनचक्र में पंचायतों की स्थापना एक जटिल काम सिद्ध हुआ।

कार्यपालिका-बहिष्कार का भी श्री अरविन्द ने आवाहन किया था। स्वेच्छाचारी, निरंकुश, नृशंस विदेशी कार्यपालिका का आधार तो भारतीय ही थे। सरकारी कार्यालयों, पुलिस-विभाग इत्यादि में भारतीय सेवा करने से इनकार कर दें, यह तो इसका मन्तव्य था ही, सरकार से सहायता, परामर्श या रक्षा की मांगें त्यागने और सरकारी अन्यायपूर्ण नियमों व आज्ञाओं का उल्लंघन तथा टैक्स न देना भी इसी में सम्मिलित थे। चूंकि यह बहिष्कार राष्ट्रीय स्तर पर कांग्रेस ने स्वीकार नहीं किया, अतः यह भी सफल नहीं हो सका।

सामाजिक बहिष्कार का अर्थ था देशद्रोही भारतीयों के साथ विवाह, उत्सव, पर्व आदि में सब प्रकार के सम्बन्ध विच्छेद कर लेना। श्री अरविन्द ने लिखा था—"जहां-जहां निष्क्रिय प्रतिरोध स्वीकृत हुआ है, वहां-वहां उसके स्वाभाविक सहगामी के रूप में सामाजिक बहिष्कार को भी स्वीकृति मिली है। सच्चे बहिष्कार-समर्थकों का एक ही नारा हो सकता है—'विदेशी माल और उसका प्रयोग करने वालों का बहिष्कार करो।' ऐसे लोगों का बहिष्कार किए बिना, मात्र वस्तुओं बहिष्कार सफल नहीं हो सकता। सामाजिक बहिष्कार के बिना मात्र वस्तुओं का का बहिष्कार सफल नहीं हो सकता।"

श्री अरविन्द के अनुसार निष्क्रिय प्रतिरोध सामान्यतया शान्तिपूर्ण होता है—"हम कानून और कार्यपालिका के विरुद्ध शान्तिपूर्ण विधि से सक्रिय रहते हैं, परन्तु कानूनी परिणामों को हम निष्क्रियतापूर्वक स्वीकार करते हैं।" किन्तु यह गांधीजी का अहिंसात्मक सत्याग्रह नहीं है, क्योंकि 'निष्क्रिय प्रतिरोध की एक सीमा है। जब तक कार्यपालिका का कार्य ही शान्तिपूर्ण है और युद्ध के नियमों के अन्तर्गत है, निष्क्रिय प्रतिरोधी अपनी निष्क्रियता की वृत्ति ईमानदारी से बनाए रखेगा, किन्तु उससे एक क्षण भी अधिक होने पर वह ऐसा करने को बाध्य नहीं है। बल-प्रयोग के गैरकानूनी या हिंसात्मक उपायों को, अत्याचार और गुण्डागर्दी को 'देश

की कानूनी प्रक्रिया का एक अंग समझ लेना कायर बनना है, और राष्ट्र के पौरुष को छोटा करके अपने व मातृभूमि के दिव्यत्व के प्रति पाप करना है। इस प्रकार का बलप्रयोग होते ही निष्क्रिय प्रतिरोध समाप्त हो जाता है और सक्रिय प्रतिरोध कर्तव्य हो जाता है।......"किन्तु यद्यपि यह निष्क्रिय नहीं है, तथापि यह प्रतिरक्षात्मक प्रतिरोध है।" श्री अरविन्द ने आगे लिखा था—"निष्क्रिय प्रतिरोध से एक सशक्त और महान् राष्ट्र का निर्माण तब तक नहीं हो सकता, जब तक वह भावना में पौरुषमय, साहसी और ओजस्वी न हो, और जब तक वह संकेत पाते ही सक्रिय प्रतिरोध से स्वयं की अनुपूर्ति न कर ले। सहन करना जानने वाली किन्तु आघात करना न जानने वाली अबलाओं के राष्ट्र का निर्माण हम नहीं करना चाहते।"

डा० कर्णसिंह ने इस विषय पर प्रकाश डालते हुए ठीक ही लिखा है—"यह ऐसी बात है जिसमें गांधी जी के परवर्ती सिद्धान्त से बहुत भिन्नता थी। श्री अरविन्द की सबसे बड़ी अभिलाषा यह थी कि इस निष्क्रिय और संत्रस्त राष्ट्र में शक्ति और ओजस्विता फूंक दी जाए और वह अपनी महान् आध्यात्मिक और भौतिक अन्तर्निहित शक्ति को दोबारा पहचाने। यह केवल सत्याग्रह मात्र से संभव नहीं था और इसलिए उन्होंने सत्याग्रह का समर्थन करते हुए भी स्पष्ट कर दिया कि वह एक नकारात्मक या कायरता का सिद्धान्त नहीं है जो भीरुता या अकर्मण्यता का आवरण मात्र हो। अपितु वह तो एक अतिशक्तिसम्पन्न सिद्धान्त है जो अन्य उपायों की अपेक्षा कम साहसिक और आक्रामक होते हुए भी एक दूसरे प्रकार के शौर्य की, अधिक व्यापक सहनशीलता और यंत्रणा की अपेक्षा करता है।"[1]

इसी संदर्भ में 'दी मॉरलिटी आफ़ बायकाट' (बहिष्कार की नैतिकता) शीर्षक लेख का, जो 'वन्देमातरम्' में छपना था, पर पुलिस द्वारा अधिकार में कर लेने पर अलीपुर बमकाण्ड में प्रकाश में आया था, उल्लेख भी समीचीन प्रतीत होता है।[2] उसके दो-तीन उद्धरण अत्यन्त व्यावहारिक उपयोग के होने से उल्लेख्य हैं। श्री अरविन्द ने लिखा था—"राजनीति का सम्बन्ध मानवों के समूहों से है, व्यक्तियों से नहीं। मानवों के समूह से यह कहना कि वे संतों जैसा व्यवहार करें, भागवत-प्रेम की ऊंचाई तक जाएं, और अपने विपक्षियों या पीड़कों से प्रेम का व्यवहार करें, मानव प्रकृति की उपेक्षा करना है।...युद्ध को पाप तथा आक्रामकता को नैतिकता का अधःपतन समझकर पीछे हटने वालों के लिए गीता सर्वोत्तम उत्तर है।...राष्ट्र और राष्ट्र के मध्य न्याय, पक्षपात, शौर्य, कर्तव्य तो होता है पर प्रेम

---

१. भारतीय राष्ट्रीयता का अग्रदूत ।
२. प्रकाशित पुस्तक 'दी डाक्ट्रिन आफ़ पैसिव रैसिस्टेंस' में अन्य निबन्धों के अन्त में यह भी समाविष्ट है।

नहीं होता।...विदेशियों के प्रति घृणा नहीं, अपितु विदेशी शोषण से दोषों का विरोध ही बहिष्कार का मूल है।" श्री अरविन्द ने अन्त में लिखा था—"न्याय और धर्म की प्रतिष्ठा के लिए जैसे संत की पवित्रता आवश्यक है, वैसे ही योद्धा की तलवार भी। शिवाजी के बिना रामदास अधूरे हैं।"

'नवचिन्तन'—लेखमाला में पहले लेख (१० अप्रैल) में श्री अरविन्द ने 'दी हिन्दू पैट्रियट' के इस आरोप का कि उग्रपंथियों के पास कोई व्यावहारिक कार्य-क्रम नहीं है, करारा उत्तर देते हुए लिखा था कि इस सम्पादक को यह पता नहीं है कि राष्ट्र-जीवन के निर्माण में कार्यक्रमों और नीतियों का महत्त्व होते हुए भी उनका स्थान काल-क्रम से सर्वप्रथम नहीं है। नये विचार या नए आदर्श ने, न कि किसी पहले से तैयार 'कार्यक्रम' या 'नीति' ने, विश्व-इतिहास के प्रत्येक प्रगतिशील आंदोलन का श्रीगणेश किया है। यह नया विचार और नया आदर्श ही...राष्ट्रीय मन को प्रथम प्रेरणा प्रदान करता है और उसे आवश्यक उल्लास व शक्ति प्रदान करता है—'कार्य क्रम' और 'नीतियां' विचार की ही न्यूनाधिक उपज है—किसी विशेष मामले की परिस्थितियों के तार्किक विवेचन के परिणाम ही। परन्तु उनसे जनशक्ति रत्ती भर भी नहीं बढ़ती, अपितु शक्ति ही 'कार्यक्रमों' व 'नीतियों' को रूप प्रदान करती है।"

उन्होंने नवचिन्तन का परिचय देते हुए लिखा था—"नवचिन्तन स्पष्ट घोषणा करता है कि भारत को इतिहास में अपना भाग्य व अपना उद्देश्य लेकर पृथक्-पृथक् राष्ट्र के रूप में जीने का अधिकार है...और इस कारण वह पूछता है कि क्या भारत को स्वतन्त्र भाग्य की अनुमति दी जाएगी, एक ऐसे भाग्य की जिसे वह अपने ढंग से स्वयं गढ़ने को स्वतन्त्र हो।" आगे उन्होंने लिखा था कि इस प्रश्न का उत्तर नवचिन्तन यह देता है कि—"वह समय आ गया है जब भारत एक स्वर से यह घोषणा करे कि भारतीय राष्ट्रीय विकास के लिए भारतीय प्रश्नों को अब ब्रिटिश महत्त्व की दृष्टि से परखने व निर्णीत किया जाना बन्द होना चाहिए और इसलिए 'भारत ब्रिटिशों के लिए' के सिद्धान्त के स्थान पर 'भारत भारतवासियों के लिए' सिद्धान्त रखा जाना चाहिए और यही भारतीय राजनीति का प्रमुख और प्रबल वैशिष्ट्य होना चाहिए।" राष्ट्रवादी आन्दोलन का 'भारत भारतीयों के लिए' का घोष विदेशियों के प्रति घृणा का सूचक नहीं है, क्योंकि यह विश्व इति-हास का अनिवार्य निष्कर्ष है कि राष्ट्र की आत्मविकास में सफलता और विदेशी शासन साथ-साथ नहीं चल सकते। और इसी कारण स्वदेशी-आन्दोलन, औद्योगिक व राजनीतिक प्रकार का बहिष्कार-आन्दोलन, राष्ट्रीय शिक्षा-आन्दोलन भारत राष्ट्र की स्व-आदर्शों की 'स्व'-तन्त्र से उपलब्धि के लिए स्वाभाविक ही हैं।

नवचिन्तन में 'श्रद्धा' का गम्भीर महत्त्व घोषित करते हुए २५ अप्रैल के लेख में कहा गया था—"श्रद्धा ही संकलपवान व विचारयुक्त व्यक्तियों को देखने में अनुल्लंघनीय लगने वाली कठिनाइयों के होते हुए भी दृढ़प्रतिज्ञ बनाए रखती

है।...सभी महान् आत्माओं का एक प्रवल वैशिष्ट्य श्रद्धा ही है...श्रद्धा की सूक्ष्म दृष्टि ही दूर भविष्य को भेदती है और असंभव को संभव वना देती है।...हमें सर्वोपरि आवश्यकता है श्रद्धा की, अपने में श्रद्धा, राष्ट्र में श्रद्धा, भारत के भाग्य में श्रद्धा। अपने भविष्य में सशक्त श्रद्धा रखने से अजेय वने दर्जन भर लोगों ने अन्य समयों में राष्ट्रीयता के विशाल देशों के कोने-कोने में पहुंचा दिया था।"

श्री अरविन्द ने २६ अप्रैल के लेख में राष्ट्रवादी नए चिन्तन का स्वरूप प्रतिपादित करते हुए लिखा था कि यह आन्दोलन 'ब्रिटिश सरकार बुरी है,' इस कारण उसके विरुद्ध नहीं है, अपितु इस कारण है कि 'वह अभारतीय सरकार है, विदेशी सरकार है'– फिर चाहे अच्छी हो या बुरी। और यह नकारात्मक विचारधारा नहीं है—"इसका जन्म इस विश्वास से हुआ है कि वह समय आ गया है जब भारत एक महान् स्वतन्त्र व संगठित राष्ट्र वन सकता है, वनना चाहिए और वनेगा। यह विध्वंस की नकारात्मक धारा नहीं है, अपितु आधुनिक भारत के निर्माण की ओर सकारात्मक रचनात्मक प्रेरणा है। यह कोई विद्रोह व निराशा का स्वर नहीं है अपितु राष्ट्रीय श्रद्धा और विश्वास का सिद्धान्त है। इसका सही वर्णन 'उग्रपंथता' नहीं है अपितु 'जनतांत्रिक राष्ट्रवाद' है।"

२७ अप्रैल के लेख में ब्रिटिश-भक्त भारतीयों के दृष्टिकोण की त्रुटियों का उद्घाटन किया गया था। वे समझते हैं कि भारतीय जनता का यह चरित्र ही है कि वह सदैव परस्पर लड़ती-झगड़ती रहे और इसलिए एक वाहरी शक्ति अन्य राष्ट्रों के आक्रमणों से सुरक्षार्थ आवश्यक है। उनकी दूसरी धारणा यह है कि भारतीय समाज में दिखाई देने वाली सभी जातिगत, प्रांतगत, धर्मगत आदि भेद मिटे विना ब्रिटिश शक्ति का विरोध किया ही नहीं जा सकता। तीसरी धारणा यह है कि विदेशी शासन में ही राष्ट्र का स्वस्थ विकास संभव है और जव तक राष्ट्र विकसित न हो जाए तव तक विदेशी शासन को जाने न दिया जाए। श्री अरविन्द ने इन तीनों धारणाओं का खण्डन विश्व-इतिहास, मानव-प्रकृति के ज्ञान इत्यादि के आधार पर किया था।

२९ अप्रैल के लेख में एक महत्त्वपूर्ण मत यह भी था—"अतीत में भारत की वड़ी दुर्वलता रही है, जनता के एक वड़े भाग की राजनीतिक अधमावस्था अथवा राजनीतिक शून्यता। मुगलों या अंग्रेज़ों ने भारत को भारतीय समाज से नहीं, एक छोटे से विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग से जीता था। दूसरी ओर, १८वीं शताब्दी में मरहठों व सिखों की शक्ति व सफलता का कारण शिवाजी व गुरु गोविन्दसिंह की वह नीति थी जिसने सम्पूर्ण जाति को योद्धा-पंक्ति में खड़ा कर दिया था। वे असफल हुए केवल इस कारण कि मरहठे शिवाजी के द्वारा जातीय शक्ति को दिये गए संघत्व को वनाए नहीं रख सके और सिखों ने गुरु गोविन्द के द्वारा खालसा को दिए गए अनुशासन को खो दिया।"

१४. अग्नि-वीणा के स्वर

तुम केमन करे गान कर जे गुणी,
अवाक हय शुनि, केवल शुनि।
सुररे आलो भुवन फेले छेये,
सुररे हावा चले गगन वेये,
पाषाण टुटे व्याकुल वेगे धेये
बहिया जाय सुरेर सुरधुनि॥
मने करि अम्नि सुरे गाइ,
कण्ठे अमार सुर खूंजे पाइ।

—श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर

(हे गुणनिधान! तुम किस प्रकार गाते हो? मैं तो अवाक् रहकर उसे सुनता ही हूं, केवल सुनता हूं। तुम्हारे संगीत-स्वर का आलोक सम्पूर्ण भुवन में फैल गया है। तुम्हारे संगीत की वायु से सम्पूर्ण गगन व्याप्त है। तुम्हारी स्वर-सरिता पाषाणों को तोड़कर व्याकुल वेग से दौड़ती हुई आगे की ओर जाती है। मन में आता है कि मैं भी इसी स्वर में गाऊं, परन्तु खोजने पर भी मेरे कण्ठ से यह स्वर नहीं फूटते।)

हरे कागज़ पर छपने वाले 'वन्देमातरम्' के लेखों में कृष्ण की हरी वंशी-जैसा आकर्षण था। उसके जैसे अग्निवर्षी लेखों वाले पत्रों पर सतर्क सरकार की कोप-दृष्टि न पड़े, यह असंभव था। श्री अरविन्द तो दमनचक्र के स्वागत के लिए सदा ही तैयार रहते थे। परन्तु अपनी बहुविध व्यस्तता के कारण 'वन्देमातरम्' में वे कितनी तैयारी या शांति से लिखते थे? इसका एक सजीव वर्णन श्री ए० बी० पुराणी ने उनके किसी सहयोगी के आधार पर इस प्रकार दिया है—

"श्री अरविन्द स्काट्स लेन में अपने घर में बैठे हैं। श्यामसुन्दर चक्रवर्ती आते हैं और सम्पादकीय मांगते हैं। श्री अरविन्द अपनी मेज़ के कागज़ों के गट्ठर

में से कुछ पुराना पैंकिंग कागज़ निकाल लेते हैं और उसके एक सिरे पर लिखना प्रारम्भ कर देते हैं। वे पन्द्रह मिनट में लेख समाप्त कर देते हैं—एक जगह भी काट-पीट नहीं, परिवर्तन नहीं, एक क्षण को भी रुकना नहीं। अगले दिन वही लेख सम्पूर्ण भारत के राष्ट्रवादियों के हृदयों में देशभक्ति की ज्वाला भड़काता दिखाई देता है।''

इसी वर्ष क्रान्तिकारियों का पत्र 'सन्ध्या' भी प्रारम्भ हुआ—१५ जुलाई को। उपाध्याय ब्रह्मबांधव इसके संचालक और सम्पादक थे। स्वामी विवेकानन्द के अनुज श्री भूपेन्द्रनाथ दत्त को एक राजद्रोही लेख लिखने के अभियोग में दण्डित किया गया। वे सफ़ाई देना चाहते थे किन्तु श्री अरविन्द ने उन्हें परामर्श दिया कि सफ़ाई देने का अर्थ है विदेशी न्यायालय व उसके अधिकार को मान्यता देना जो क्रान्तिकारियों के चिन्तन के विपरीत है।

१० मई, १९०७ को 'वन्देमातरम्' कार्यालय की तलाशी ली जा चुकी थी। परन्तु आपत्तिजनक कुछ नहीं मिला। सरकार श्री अरविन्द को फांसना ही चाहती थी। अतः २४ जुलाई को 'वन्देमातरम्' पर सरकार ने एक मुक़दमा राजद्रोही लेखन के आरोप में चला दिया। मुख्य अभियुक्त थे श्री अरविन्द और श्री विपिनचन्द्र पाल। ३० जुलाई को कार्यालय की फिर तलाशी ली गई। अगस्त में 'सन्ध्या' पर नया मुकदमा ठोक दिया गया। श्री अरविन्द जेल जाने के लिए तैयार थे, इस कारण वे २ अगस्त को कालिज के प्रिंसिपल-पद से त्यागपत्र दे चुके थे जिसका उल्लेख पहले किया जा चुका है। १६ अगस्त को उन्हें सरकार द्वारा गिरफ्तारी का आदेश मिला, आरोप था 'वन्देमातरम्' के २७ जून के अंक में प्रकाशित एक पाठक का पत्र—'इण्डिया फ़ार दी इण्डियन्स' (भारत भारतीयों के लिए)। १९ अगस्त को श्री अरविन्द ने स्वयं को पुलिस के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। श्री अरविन्द के वन्दी वनाए जाने पर सम्पूर्ण वंगाल ही नहीं, देश क्षुब्ध हो उठा। यह निश्चित प्रतीत होता था कि श्री अरविन्द को लम्बी जेल होगी। श्री अरविन्द की देशभक्ति, उच्चस्तरीय अंग्रेजी, उच्च कोटि के विचार इत्यादि से प्रभावित भारतीय जनसमाज की अभिव्यक्ति विविध पत्रों की तत्कालीन प्रतिक्रियाओं में देखने को मिलती है। उदाहरणार्थ, 'इण्डियन पेट्रियट' के ये शब्द—"एक अत्यन्त उच्च सुसंस्कृत, सर्वप्रिय स्वभाव वाला यह मानव कितना हँसमुख है! विनोद और व्यंग की क्षमता से उद्दीप्त इस व्यक्ति के साथ रहने में किसे आनन्द नहीं आता! इनके हृदय में एक महान् लक्ष्य के लिए अगोचर देशभक्ति-ज्वाला सतत जलती रहती है।"

'मद्रास स्टैण्डर्ड' ने सम्पादकीय में लिखा था—"इस देश में प्रेस के अभियोग में चरित्र और योग्यता की दृष्टि से इतना महान् व्यक्ति देखने में नहीं आया। और लोकमान्य तिलक के 'मरहठा' में लिखा था—"कौन जानता है कि आज जो

राजद्रोह प्रतीत हो रहा है, कल वही एक दिव्य सत्य हो ? श्री अरविन्द एक मधुर-तम व्यक्ति हैं।''

वस्तुतः इसी मुकदमे से विश्व को ज्ञात हुआ कि 'वन्देमातरम्' के पीछे श्री विपिनचन्द्र पाल का नहीं, श्री अरविन्द का व्यक्तित्व है। किन्तु सरकार यह सिद्ध नहीं कर सकी कि श्री अरविन्द ही 'पोलिटिक्स फ़ार इंडियन्स' तथा 'इण्डिया फ़ार इण्डियन्स' के लेखक हैं। अतः श्री अरविन्द को मुक्ति मिली। राष्ट्रवादियों को अपार हर्ष हुआ और वहुत वड़ी संख्या में लोग उन्हें वधाई देने आए। इनमें कवीन्द्र श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी थे जिन्होंने भावुकतापूर्ण निम्नलिखित कविता लिखी।

अरविंद रवींद्रेर लहो नमस्कार !

अरविंद, रवींद्रेर लहो नमस्कार।
हे वंधु, हे देशवंधु, स्वदेश-आत्मार
वाणी-मूर्त्ति तुमि ! तोमा लागि नहे मान,
नहे धन, नहे सुख; कोनो क्षुद्र दान
चाहो नाई, कोनो क्षुद्र कृपा; भिक्षा लागि
वाड़ाओनि आतुर अंजलि ! आछो जागि
परिपूर्णतार तरे सर्ववाधाहीन,
जार लागि नर-देव चिररात्रिदिन
तपोमग्न; जार लागि कवि वज्ररवे
गेयेछेन महागीत, महावीर सवे
गियेछेन संकटयात्राय; जार काछे
आराम लज्जित शिर नत करियाछे;
मृत्यु भूलियाछे भय;—सेइ विधातार
श्रेष्ठ दान—आपनार पूर्ण अधिकार—
चेयेछो देशेर ह'ये अकुंठ आशाय,
सत्येर गौरवदृप्त प्रदीप्त भाषाय,
अखंड विश्वासे। तोमार प्रार्थना आजि
विधाता कि सुनेछेन ? ताई उठे वाजि
जयशंख ताँर ? तोमार दक्षिण करे
ताई कि दिलेन आजि कठोर आदरे
दुःखेर दारुण दीप, आलोक जाहार
ज्वलियाछे, विद्ध करि देशेर आंधार
ध्रुवतारकार मत ? जय, तव जय !
के आजि फेलिवे अश्रु, के करिवे भय

सत्येरे करिबे खर्व कोन् कापुरुष
निजेरे करिते रक्षा ! कोन् अमानुष
तोमार वेदना ह'ते ना पाइबे बल !
मोछ् रे, दुर्बल चक्षु, मोछ् अश्रुजल !

(हे श्री अरविन्द ! रवीन्द्र का नमस्कार स्वीकार करो !
हे वन्धु, हे देशवन्धु
तुम देशात्मा की वाणी-मूर्त्ति हो !
तुम्हें न सम्मान की चाह है, न धन की, न किसी कृपा की,
भिक्षा के लिए तुम्हारी आतुर-अंजलि कभी नहीं उठती।
संसार में
सर्ववाधा-विहीन परिपूर्णता की प्राप्ति के लिए
तुम सदा जागृत हो।
यह वही तपस्या है, जिसके लिए
सनातन काल से नर-देव तपोमग्न हैं;
जिसके लिए वज्र-रव से कवियों ने महागीत गाया है
और जिसकी संकट-यात्रा पर महावीर चलते रहे हैं
जिसके सामने आराम लज्जित, नत-मस्तक है
जिसके सामने मृत्यु भय भूल चुकी है
विधाता का वही श्रेष्ठ दान
पूर्ण अधिकार और अकुंठ गाथा से भरकर
सत्य की गौरव-दीप्त प्रदीप्त भाषा में
अखण्ड विश्वास के साथ तुमने देश के लिए मांगा है !
तुम्हारी प्रार्थना
क्या विधाता ने आज सुनी है ?
इसीलिए आज जय-शंख तो नहीं बज रहा है ?
तुम्हारे दाहिने हाथ में कठोर आदर के साथ दुःख का
दारुण दीप
उन्होंने क्या इसीलिए नहीं कर दिया
जिसकी ज्योति आज जल रही है
और ध्रुवतारा के सदृश,
देश में व्याप्त अंधकार को विद्ध कर रही है ?
तुम्हारी जय हो, जय हो !
आज कौन आंसू बहाएगा ? कौन भय-कातर बनेगा ?

अपनी रक्षा के लिए कौन कापुरुष
सत्य को खण्डित करेगा ?
कौन अमानुष तुम्हारी वेदना से बल नहीं पायेगा ?
रे दुर्बल-चक्षु ! जितना आंसू बहाना है बहा ले !)

देवतार दीपहस्ते जे आसिल भवे,
सेइ रुद्रदूते, बलो, कोन् राजा कवे
पारे शास्ति दिते। बंधन श्रृंखल तार
चरणवंदना करि करे नमस्कार—
कारागार करे अभ्यर्थना। रुष्ट राहु
विधातार सूर्यपाने बाड़ाइया बाहु
आपनि विलुप्त हय मुहूर्त्तेक परे
छायार मतन। शास्ति। शास्ति तारि तरे,
जे पारे ना शास्तिभये हइते बाहिर
लंघिया निजेर गड़ा मिथ्यार प्राचीर,
कपट वेष्टन;—जे नपुंस कोनो दिन
चाहिया धर्मेर पाने निर्भीक स्वाधीन
अन्यायेरे बलेनि अन्याय; आपनार
मनुष्यत्व, विधिदत्त नित्य अधिकार,—
जे निर्लज्ज भये लोभे करे अस्वीकार
सभामाझे, दुर्गतिर करे अहंकार;
देशेर दुर्दशा ल'ये जार व्यवसाय,
अन्न जार अकल्याण, मातृरक्त प्राय;
सेइ भीरु नतशिर चिरशास्तिभारे
राजकारा बाहिरेते नित्य-कारागारे।

(देवता का दीप हाथ में लिए हुए
जो रुद्र-रूप संसार में आया है,
भला बोल, कौन राजा उसको नियन्त्रण में रखेगा ?
बन्धन-श्रृंखला तो उसके चरणों की वन्दना करती है,
नमस्कार करती है;
कारागार उसकी अभ्यर्थना करता है।
रुष्ट राहु विधाता के सूर्य के लिए
अपनी बांहों को फैलाकर मुहूर्त्त भर में

खुद छाया की तरह विलुप्त हो जाता है
तव दमन ?
दमन तो उसी का होता है जो अपने ही बनाये हुए
मिथ्या-प्राचीर के कपट-वेष्ठ से बाहर नहीं जा सकता
जो कापुरुष स्वाधीन और निर्भय होकर धर्म के लिए
अन्याय को अन्याय बोलने से घबराता है
जो निर्लज्ज, विधाता प्रदत्त नित्य-अधिकार
मनुष्यत्व को हीं
भयवश सभा के बीच अस्वीकार कर देता है
जिसे दुर्गति का ही अहंकार है,
देश की दुर्दशा का ही जो व्यापार किया करता है,
जो अकल्याण और मातृ-रक्त से ही
अपने को पोपता है, वही भीरु
राज्य-कारागार से बाहर होकर भी
नित्य-कारागार में लांछित, दण्डित और बन्द हैं।)

बन्धन पीड़न दुःख असम्मान माझे
हेरिया तोमार मूर्त्ति, कर्णे मोर बाजे
आत्मार बन्धनहीन आनंदेर गान,
महातीर्थ यात्रीर संगीत, चिरप्राण
आशार उल्लास, गंभीर निर्भय वाणी
उदार मृत्युर। भारतेर वीणापाणि,
हे कवि ! तोमार मुखे राखि दृष्टि ताँर
तारे-तारे दियेछेन विपुल झंकार,—
नाहि ताहे दुःखतान, नाहि क्षुद्र लाज,
नाहि दैन्य, नाहि त्रास ! ताइ सुनि आज
कोथा ह'ते झंझासाथे सिन्धुर गर्जन,
अंधवेगे निर्झरेर उन्मत्त नर्त्तन
पाषाणपिंजर टूटि,—वज्रगर्जरव
भेर-मंद्रे मेघपुंज जागाय भैरव।
ऐ उदात्त संगीतेर तरंगमाझार,
अरविन्द, रवीन्द्रेर लहो नमस्कार !

(बन्धन, पीड़न, दुःख और असम्मान के बीच
तुम्हारी मूर्त्ति देखकर हमारे कानों में

आत्मा का बन्धनहीन आनन्द का गान मुखरित हो रहा है।
वह संगीत महातीर्थ-यात्रियों का संगीत बज रहा है।
चिरजीवी आशा का उल्लास
उदार मृत्यु की गम्भीर वाणी हमारे कानों में झंकृत है
तुम्हारे मुख पर अपनी ही दृष्टि अटकाकर
हे कवि ! भारत की वीणापाणि अपनी वीणा के तार में
विपुल झंकार भर रही है
उसमें शोक, क्षुद्र लज्जा, दैन्य, त्रास की कोई बात नहीं है
उसी को आज सुनकर कहीं से झंझा के साथ
सिन्धु का गर्जन, अन्ध वेग से निर्झर का उन्मत्त नर्तन
पाषाण-पिंजर तोड़कर वज्र गर्जन से
मेघ-पुंज गम्भीर रव में भैरव जगा रहा है।
इस उदात्त संगीत-तरंग के बीच
हे श्री अरविन्द ! रवीन्द्र का नमस्कार स्वीकार करो।)

तारे परे ताँरे नमि, जिनि क्रीड़ाच्छले
गड़ेन नूतन सृष्टि प्रलय-अनले,
मृत्यु ह'ते देन प्राण, विपदेर बुके
संपदेरे करेन लालन, हासिमुखे
भक्तेरे पाठाये देन् कंटक-कांतारे
रिक्तहस्ते शत्रुमाझे रात्रि-अंधकारे।
जिनि नाना कंठे कन नाना इतिहासे,
सकल महत् कर्मे, परम प्रयासे,
सकल चरम लाभे—"दुःख किछु नय,
क्षत मिथ्या, क्षति मिथ्या, मिथ्या सर्व भय;
कोथा मिथ्या राजा, कोथा राजदण्ड तार
कोथा मृत्यु, अन्यायेर कोथा अत्याचार।
ओरे भीरु, ओरे मूढ़, तोलो तोलो शिर,
आमि आछि, तुमि आछो, सत्य आछे स्थिर।"

(इसके बाद हम उन्हें नमन करते हैं
जो क्रीड़ा के उल्लास में प्रलयाग्नि के बीच
नयी सृष्टि रचते हैं ;
मृत्यु से प्राण की रचना करते हैं,

विपद के बीच सम्पत्ति का पालन करते हैं
जो हँसते-हँसते
भक्तों के कंटक-वन में शत्रुओं के बीच रिक्तहस्त
रात्रि के अन्धकार में लड़ने को भेज देते हैं;
जो इतिहास के भिन्न-भिन्न कण्ठों में
सभी महत कर्मों में, परम प्रयासों में, सभी चरम लाभ में
इसका घोप कर रहे हैं—
"दुःख कुछ नहीं है, क्षत मिथ्या है, क्षति मिथ्या है,
सभी भय मिथ्या है !
मिथ्या राजा कहां है ? उसका राजदण्ड कहां है ?
मृत्यु कहां है ? अन्याय, अत्याचार कहां है ?
अरे भीरु ! सिर उठाकर देख,
केवल मैं हूँ, तू है और असीम सत्य है।")

उस समय की एक रोचक घटना उल्लेखनीय है। श्री रवीन्द्र ने उनका आलिंगन करते हुए विनोदपूर्ण अंग्रेज़ी में कहा—"क्यों, हमें धोका दे दिया न !" श्री अरविन्द ने भी उन्हें अंग्रेज़ी में ही उत्तर दिया—"बहुत दिनों आपको प्रतीक्षा नहीं करनी पड़ेगी।" और अपने जेल जाने के सम्बन्ध में श्री अरविन्द की यह भविष्यवाणी ठीक सिद्ध हुई, जैसा हम आगे देखेंगे।

श्री अरविन्द मिदनापुर में ७, ८, ९ नवम्बर को होने वाली ज़िला कांग्रेस में भाग लेने के लिए पहुंचे थे। राष्ट्रवादियों का अधिक प्रभाव होने के कारण नरमदलीय लोगों के द्वारा चुने गए अध्यक्ष के० बी० दत्त को पहले दिन ही सभा में बोलने नहीं दिया गया और राष्ट्रवादियों ने श्री अरविन्द के नेतृत्व में ८ नवम्बर को एक पृथक् सभा की तथा अपने प्रस्ताव पारित किए जो कांग्रेस के सूरत-अधिवेशन के लिए भेज दिए गए। इस अवसर पर उन्होंने अपनी कुशलता से अनेक नरमदलीय नेताओंको अपने पक्ष में खींच लिया तथा सफलतापूर्वक सभा चली। विशेष उल्लेखनीय है कि ५ नवम्बर को बंगाल के गवर्नर की गाड़ी पर बम फेंकने की घटना हो चुकी थी और आगे चलकर प्रसिद्ध बने क्रांतिकारी खुदीराम बोस तथा क्रांतिकारी श्री सत्येन्द्र बोस से भी श्री अरविन्द की यहां भेंट हुई थी।

ऐसे राजनीतिक संघर्षों के मध्य श्री अरविन्द पारिवारिक जीवन की चिंता नहीं कर पाते थे। पत्नी मृणालिनी देवी को लिखे गए या उनसे प्राप्त समय-समय के पत्रों से इस बात पर प्रकाश पड़ता है। १७ फरवरी, १९०७ को अपने पत्र में श्री अरविन्द ने लिखा था—"यह मेरी पुरानी त्रुटि है कि मैंने तुम्हें बहुत समय से पत्र

नहीं लिखा। यदि तुम अपनी भलमनसाहत से मुझे क्षमा न करो तो मैं असहाय हूं। मेरा जो स्वभाव है वह एक दिन में तो जा नहीं सकता। मुझे भय है कि इस त्रुटि को ठीक करने के प्रयत्न में यह सम्पूर्ण जीवन भी जा सकता है। मेरा ४ जनवरी को तुमसे मिलने आना निश्चित हुआ था, परन्तु मैं नहीं आ सका; यह मेरे अपने कारण नहीं हुआ। मुझे वहां जाना पड़ा जहां भगवान् मुझे ले गए। इस वार मैं अपने कार्य के लिए नहीं गया था, उसके कार्य के लिए गया था। इस समय मेरे मन की स्थिति पूर्णतया परिवर्तित हो चुकी है; इससे अधिक इस पत्र में मैं कुछ प्रकट नहीं करूंगा।...तुम्हारा यह विचार हो सकता है कि मैं तुम्हारी उपेक्षा कर रहा हूं और अपना कार्य कर रहा हूं। परन्तु ऐसा मत सोचो। अभी तक मैं तुम्हारे प्रति अनेक पापों का अपराधी हूं और यह स्वाभाविक है कि तुम उस कारण असंतुष्ट हो गई हो; किन्तु मैं अव आगे से तो अधिक स्वतंत्र हूं ही नहीं, तुम्हें समझना होगा कि जो कुछ मैं करता हूं, मेरी इच्छा पर निर्भर नहीं करता, अपितु भगवान् के आदेश से किया जाता है। जव तुम यहां आओगी, तव मेरे शब्दों का अर्थ पूर्णतया समझ सकोगी।..."

और ६ दिसम्बर, १९०७ को लिखा गया पत्र भी उल्लेखनीय है—"...आजकल तो मुझे एक क्षण की भी छुट्टी नहीं है; लेखन, जटिल कांग्रेस संगठन, तथा वन्देमातरम् के मामला निपटाने का भार मेरे सिर पर है। मैं पूरा काम कठिनाई से ही कर पाता हूं। और इन सवसे ऊपर, मेरा अपना काम भी है जिसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। क्या मेरी एक प्रार्थना सुनोगी? मैं वड़े चिन्ताजनक क्षणों में से चल रहा हूं, सब ओर से इतना दवाव है कि आदमी पागल हो जाए। और ऐसे समय पर यदि तुम भी अशांत हो जाओ तो मेरी परेशानी और चिंता वढ़ेगी ही। उत्साहवर्धन और सांत्वना के पत्र से मुझे विशेष वल मिलेगा, और मैं सभी वाधाओं और संकटों को प्रसन्न हृदय से पार कर लूंगा।...यह दुःख तुम्हारे अपरिहार्य भाग्य में ही है, क्योंकि तुमने मुझसे विवाह किया है। वीच-वीच में वियोग होता ही रहेगा क्योंकि साधारण वंगालियों की भांति मैं सम्वन्धियों व परिवार के सुख को अपने जीवन का मुख्य उद्देश्य नहीं वना सकता...।"

और, इन सव परिस्थितियों के मध्य 'वन्देमातरम्' में उनके लेख राष्ट्रभक्तों का उत्साहवर्धक मार्गदर्शन तथा विरोधियों पर मर्मान्तिक प्रहार अनवरत रूप से कर रहे थे। १४ जुलाई,१९०७ के 'वन्देमातरम्' में 'दी प्रिसीडेंस आफ पोलिटिकल रिफार्म' (राजनीतिक सुधार पहले) में उन्होंने इस पर खिन्नता प्रकट की थी कि श्री गोखले जैसे भारतीयों की एक वड़ी संख्या आज देश में है जो पहले सामाजिक, फिर औद्योगिक और अन्ततः राजनीतिक विकास के क्रम में विश्वास रखते हैं। समाज में दोष हैं और उनसे हानियां हैं, यह हम सव को पता होने पर भी उन्हें

दूर करने के लिए जिस ठीक, स्वस्थ और व्यापक शिक्षा-पद्धति की आवश्यकता है, वह स्वतन्त्र भारत में ही संभव है। "भारत की निर्धनता भी प्रमुख रूप से इंग्लैण्ड व अन्य विदेशों के उद्योगों से असमान जीवन-संघर्ष में भारतीय उद्योगों के नष्ट हो जाने के कारण है।" "अतः हमारे देश की राजनीतिक मुक्ति प्रथम आवश्यकता है, केवल इसीलिए नहीं कि यह स्वयं में प्राप्य है अपितु इसलिए भी कि यह जीवन के विविध क्षेत्रों में राष्ट्रीय प्रगति के लिए पूर्व-शर्त है।" उन्होंने अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में या उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में इंग्लैण्ड की सामाजिक स्थिति क्या थी, इसका एक रोचक उदाहरण दिया था। "नैपोलियन से युद्ध के काल में ब्रिटिश संसद ने, जनसंख्या वृद्धि के अत्यंत देशभक्तिपूर्ण उद्देश्य से, यह विचार बनाया था कि इंग्लैण्ड की युद्ध शक्ति बढ़ाने के कारण प्रत्येक माता को प्रति वैध सन्तान छह पेंस प्रति सप्ताह तथा प्रति अवैध सन्तान दो शिलिंग छह पेंस प्रति सप्ताह मिला करेंगे। · तब अवैध जन्मों के प्रोत्साहन का देश की उच्चतम नैतिक चेतना के साथ तालमेल बैठता था।" यही नहीं उद्योगों में स्त्री-पुरुष-बच्चों की भी बुरी दशा थी किन्तु फ्रांस की राज्यक्रांति के फलस्वरूप प्रकटे १८३२ के जन-आंदोलन के पश्चात् ही सामाजिक व औद्योगिक सुधार संभव हो सके।

१८ अगस्त के 'दी फाउंडेशन्स आफ़ नेशनलिटी' (राष्ट्रीयता के आधार) लेख में उन्होंने फ्रांस, अमरीका, आस्ट्रिया व रूस के उदाहरण देते हुए एक अन्य सम्पादक एन० एन० घोष के द्वारा अपनी पत्रिका में प्रकाशित लेख का खण्डन करते हुए लिखा था—"जाति, धर्म या भाषा की एकता राष्ट्र के लिए अपरिहार्य है, यह विचार परीक्षा करने पर ठीक नहीं बैठता। एकता के ऐसे तत्त्व राष्ट्र के विकास में बड़े सहायक हैं किन्तु वे अनिवार्य हैं और उन्हीं से राष्ट्र का विकास हो जाएगा, यह भी नहीं है। यद्यपि रोमन साम्राज्य ने एक सर्वनिष्ठ भाव, सर्वनिष्ठ धर्म और जीवन बना लिया था तथा उसने जातीय विविधताओं को अपनी एकरूप पद्धति में भारी बोझों के नीचे कुचलने का पूर्ण प्रयत्न भी किया था, तथापि वह एक महान् राष्ट्र नहीं बना सका।" आगे उन्होंने राष्ट्र की अनिवार्य शर्तें बताते हुए कहा था—"भौगोलिक एकता, सर्वसामान्य अतीत, सशक्त सर्वसामान्य हित जो एकता की ओर प्रेरित करे तथा कुछ अनुकूल राजनीतिक परिस्थितियां जो उस प्रेरणा को उस राष्ट्र को अभिव्यक्त करने वाले तथा अपनी एक व अखण्ड सत्ता बनाए रखने वाले एक सुगठित शासन के रूप में स्वयं साकार हो सके। यह राष्ट्र के एक भाग, एक जाति या समुदाय के द्वारा अन्यों को अपने नेतृत्व या प्रभुत्व के अधीन करने से हो सकता है अथवा बाहर या अन्दर से एक सर्वसामान्य दबाव के संगठित प्रतिरोध से भी हो सकता है। सर्वसामान्य हित से संयुक्त सर्वसामान्य उत्साह राष्ट्रीयता का सर्वाधिक शक्तिशाली पोषक है।"

२२ सितम्बर, १९०७ का लेख 'नेशनल वर्चूज़' (राष्ट्रीय गुण) अत्यन्त महत्त्व-

पूर्ण है। इसमें श्री अरविन्द ने लिखा था—"सत्य प्रथम वस्तु है जिससे हमारा आचरण प्रेरित होना चाहिये। कहां है ऐसा भारतीय जो अपने हृदय पर हाथ रख कर कह सकता है कि वह अपने स्वदेशवासियों से अधिक विजातियों से सहानुभूति रखता है ? यदि कोई कहे भी तो हम उसे असाधारण प्राणी ही मानेंगे। अतः मानव प्रकृति की कार्यविधि से युक्तिसंगत विचार से यह निष्कर्ष निकलता है कि मानव को अपने राष्ट्र की सेवा के ऊपर किसी विश्व-भावना व आदर्श को पहला स्थान नहीं देना चाहिए।······राष्ट्रीय गुणों का अभाव किसी बात से पूरा नहीं हो सकता। राष्ट्र-निर्माता प्रेम व सहानुभूति, जो मानव-हृदय के प्राथमिक भाव हैं, के लिए हमारी बौद्धिक व आध्यात्मिक श्रेष्ठता तुच्छ अनुकल्प हैं। हम पर कृतघ्नता का आरोप लग सकता है यदि हम उनके भाग्य को सुधारने से कतराएं जिनके साथ हम एक ही समाज और एक ही देश में जन्मे हैं। देशभक्ति कोसामाजिक भावनाओं में इतना उत्कृष्ट स्थान व्यर्थ ही नहीं दिया गया है। देशभक्ति तो मानवता के लक्ष्य विश्वबन्धुत्व का ही एक पक्ष है। विश्वप्रेम से उसका द्वितीय स्थान केवल मात्रा-विचार से ही है।···हम सभी मनुष्यों को एकसा प्रेम नहीं कर सकते और वह भी सामाजिक भावनाओं के विकास के प्रथम चरण मेंही।" श्री अरविन्द ने समाजवाद और देशभक्ति का तालमेल बैठाते हुए लिखा था—"यदि हम ठीक से समझें तो समाजवाद मानव समाज को सम्पत्ति के अत्याचार से मुक्त करना चाहता है। इसका लक्ष्य ऐसी सामाजिक परिस्थितियां लाना है जो समाज के सभी सदस्यों के लिए जीवन की समान सुख-सुविधाएं सुनिश्चित कर दे। इस प्रकाश में देखने पर, जिस समाज में हम रहते हैं, चलते-फिरते हैं, अस्तित्ववान हैं, उसकी उन्नति का लक्ष्य रखने वाली देशभक्ति समाजवाद के प्राप्य लक्ष्य से कहीं टकराती नहीं। सच पूछिये तो नागरिक का कर्तव्य समाजवादी कर्तव्य है। राज्य की सेवा नागरिक उसी मानवीय विचार के अन्तर्गत करता है जो समाजवादी को अपने बन्धु मानव को धनिक तंत्र से मुक्त करने को प्रेरित करता है। देशभक्ति और समाजवाद दोनों का ही लक्ष्य स्वतन्त्रता है। मानव का सर्वविध कल्याण दोनों की ही आकांक्षा है।"

२२ सितम्बर के लेखों 'दी अनहिंदू स्प्रिट आफ़ कास्ट रिजिडिटी' तथा 'कास्ट एण्ड डेमोक्रेसी' ('जातीय कट्टरता की अहिंदू भावना' तथा 'जाति व जनतंत्र') में उन्होंने महत्त्वपूर्ण बातें कही थीं। पहले लेख में उन्होंने लिखा था—"राष्ट्र में भागवत एकता के साक्षात्कार की भावनापूर्ण आकांक्षा ही राष्ट्रीयता है, एक ऐसी एकता जिसमें सभी अवयवभूत व्यक्ति, चाहे उनके कार्य राजनीतिक, सामाजिक या आर्थिक तत्त्वों के कारण कितने ही विभिन्न और आपाततः असमान प्रतीत होते हों, वस्तुतः और आधारभूत रूप से एक और समान हैं। भारत जिस राष्ट्रीयता के आदर्श को विश्व के समक्ष रखेगा, उसमें मानव-मानव, जाति-जाति तथा वर्ग-वर्ग के मध्य अनिवार्य समानता होगी क्योंकि जैसा श्री तिलक ने इंगित किया है सभी

लोग राष्ट्र में साक्षात्कृत विराट् पुरुष के विभिन्न परन्तु समान तथा संयुक्त अंग हैं। धर्म का आग्रहपूर्ण उपदेश तथा भारतीय राष्ट्रवादी का कार्य अपने देशवासी को स्वदेश के धर्म व दर्शन के इस आदर्श को समझाने के लिए ही है।" दूसरे लेख में उन्होंने लिखा था—"आत्मा नित्य है, शरीर परिवर्तित होता रहता है; और जो शरीर परिवर्तन को अस्वीकार कर दे उसे मरना ही पड़ेगा। आत्मा स्वयं को अनेक प्रकार से अभिव्यक्त करती है किन्तु स्वयं एक-सी बनी रहती है; किन्तु यदि जीवित रहना चाहे तो शरीर को बदलते परिवेशों के अनुसार परिवर्तित होना ही चाहिए। निस्सन्देह जाति-संस्था विकृत हो गई। इसका निर्धारण आत्मिक विशेषताओं से, जो कभी अनिवार्य थीं, और अब गौण तथा नगण्य मान ली गई हैं, होना बन्द हो चुका है और अब धन्धे व जन्म की भौतिक कसौटियों से उसका निर्धारण होता है। इस परिवर्तन से यह हिन्दुत्व की उस आधारभूत प्रवृत्ति के, जो आत्मिक को प्रमुख और भौतिक को अधीनस्थ मानने पर बल देती है, विरुद्ध खड़ी हो गई है और इस प्रकार अर्थहीन हो गई है। कर्तव्य-भावना के स्थान पर जातीय दम्भ, एकान्तिकता तथा उच्चता की भावना छा गई और इस परिवर्तन ने राष्ट्र को दुर्बल कर दिया और हमारी वर्तमान अवस्था बना डालने में सहायता की। इन विकृतियों को ही हम ठीक करना चाहते हैं। आधुनिक काल की परिवर्तित परिस्थितियों में अपने मौलिक व स्थायी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए इस संस्था को रूपान्तरित हो जाना चाहिए। यदि जाति-संस्था परिवर्तन को अस्वीकार करती है तो यह मात्र एक सामाजिक खण्डहर रह जाएगी तथा खण्ड-खण्ड हो जाएगी। यदि यह अपना रूपान्तरण कर लेती है तो सभ्यता के विकास में एक महान् भूमिका प्रस्तुत करेगी।" आगे उन्होंने समाजवाद के विषय में भी महत्त्वपूर्ण विचार रखे थे—"समाजवाद कोई यूरोपीय विचार नहीं है, यह मूलतः एशियाई और विशेषतः भारतीय विचार है। यूरोप में जिसे समाजवाद कहा जाता है वह मानव को अपने उच्चतर स्व का अबाधित विकास करने के लिए, अवकाश व शांति प्रदान करने के लिए, समाज की आर्थिक समस्या का स्थायी समाधान करने के लिए पुराना एशियाई प्रयास-मात्र है। समाजवाद के बिना जनतंत्र एक ऐसी प्रवृत्ति मात्र रहेगा जो कभी पूर्ण नहीं हो सकती, एक छोटे से आभिजात्य वर्ग या धनिक वर्ग के द्वारा श्रमिक वर्गों की सहमति वा मतों से शेष पर होने वाला जनशासन। समाजवादी जनतंत्र ही सच्चा जनतंत्र है··· हिन्दुत्व की उद्देश्यपूर्ति मानव-सभ्यता की उच्चतम प्रवृत्तियों की उद्देश्यपूर्ति है और इसे अपने प्रवाह में आधुनिक जीवन की सबसे अधिक प्राणवान प्रेरणाओं को समाविष्ट कर लेना चाहिए। यह जनतंत्र और समाजवाद का भी समावेश करेगा—उनका परिष्कार करते हुए, उन्हें आर्थिक व्यवस्थाओं पर, जो साधनमात्र हैं, अत्यधिक आग्रह से ऊपर उठाते हुए और उन्हें यह सिखाते हुए कि वे लक्ष्यरूप मानव जाति के नैतिक, बौद्धिक और आत्मिक

परिपूर्णत्व पर अपनी दृष्टि अधिक सातत्य और स्पष्टता से जमाए रखें।"

२७ अक्टूबर के 'वन्देमातरम्' में 'दी नागपुर एफ़ेयर एण्ड ट्रू यूनिटी' (नागपुर का मामला तथा सच्ची एकता) लेख में श्री अरविन्द ने राष्ट्रवादियों को अपने सिद्धान्तों को भी त्याग कर नरमदलीयों से ऊपरी एकता बनाए रखने के परामर्शों का करारा उत्तर दिया था। स्वतन्त्र चिन्तन और प्रगतिशील कार्यों को रखने के लिए यह आडम्बरी नारा 'पराधीनता और दुर्बलता की भावना से उत्पन्न मानसिक स्वभाव है' क्योंकि वे "संगठित विचार और कर्म की यथार्थता को नहीं, एकता के आभासमात्र को चाहते हैं।" "मृत व प्राणहीन एकता बने रहना पतन का सही लक्षण, ठीक वैसे ही जैसे सजीव एकता का बना रहना राष्ट्रीय महानता का लक्षण है।" वे अमरीका, इटली व जापान के उदाहरणों से इस प्रचलित मत का भी खंडन करते हैं कि राष्ट्रीय स्वतन्त्रता तब तक प्राप्त नहीं हो सकती जब तक पूर्ण आंतरिक एकता स्थापित न हो जाए।" जब अपनी मातृभूमि की स्वतन्त्रता और महानता सर्वोच्च विचार हो, अन्य सब जिसके अधीन हों, तब राष्ट्र के प्रति आत्मसमर्पण की एकता ही सच्ची राष्ट्रीय एकता है।

कितने इस तथ्य से परिचित हैं कि जब श्री चैतन्य को मुस्लिम काज़ी ने अपनी भव्य संकीर्तन मंडलियों को जनपथों से ले जाना निषिद्ध कर दिया था, उन्होंने अपने अनुयायियों को आदेश दिया था कि यदि आवश्यक हो तो एक विशालतर और अधिक सशक्त दल जो प्रतिरोध कर सके संगठित किया जाए और स्वयं नेतृत्व करते हुए उसी सन्ध्या को वे उस काज़ी के घर की ओर चल पड़े थे, जहां से शासकीय आदेश लागू होना था। मुस्लिम काज़ी श्री चैतन्य के अदम्य साहस और आध्यात्मिक उत्साह से इतना भयभीत हो गया था कि उसने तत्काल ही आदेश निरस्त कर दिया और उस सन्ध्या के संकीर्तन में स्वयं भाग लिया।" श्री अरविन्द ने स्पष्ट लिखा था कि यह सोचने की पद्धति गलत है कि सभी संघर्ष व प्रतिरोध, भद्दा, अधार्मिक व अनैतिक है क्योंकि अशिव को परास्त करने के लिए शिव को तत्पर होना ही पड़ेगा और "इस पृथ्वी पर आध्यात्मिक शक्ति कोई दूर रहने वाली वस्तु नहीं है अपितु मौलिक शक्तियों पर अवलम्बित तथा उनसे प्रकट शक्ति है।"

१० नवम्बर के 'ला एण्ड आर्डर' (कानून व व्यवस्था) लेख में उन्होंने विदेशी सरकार के द्वारा राष्ट्रीय आकांक्षा की अभिव्यक्ति असंभव होने के कारण उसे हानिकर बताया था। सरकार के कानूनों और व्यवस्थाओं को तोड़ने वाली राष्ट्रीय गतिविधियों का समर्थन करते हुए उन्होंने लिखा था—"जनता की इच्छा की अवज्ञा करने वाला कानून ही कानूनहीनता तथा अव्यवस्था को बढ़ाता है।"

१७ नवम्बर[1] के लेख 'दी लाइफ़ आफ़ नेशनलिज्म' (राष्ट्रवाद का जीवन) में उन्होंने राष्ट्रवाद के आन्दोलन का श्रीकृष्ण के जीवन से सादृश्य बताते हुए कहा था—"सभी महान् आन्दोलनों, सभी महान् विचारों, जिनके सामने एक भाग्य होता है, के जीवन-विकास में चार काल आते हैं।" पहला रहस्यमय काल (जेल व गोकुल), दूसरा प्रकटीकरण का (वृन्दावन), तीसरा विजय का (मथुरा व कुरुक्षेत्र का) और चौथा शासन का (द्वारिका का)। उन्होंने इसी संदर्भ में लिखा था कि भारतीय राष्ट्रवाद द्वितीय चरण में है। इसका जन्म कर्ज़न की गलत नीतियों के कारण हुई जागृति में वे नहीं मानते। कर्ज़नवाद व फुल्लरवाद के बहुत पहले उसका जन्म हो चुका था। "उसका जन्म व विकास न तो कांग्रेस पण्डाल में हुआ था, न बम्बई प्रेसीडेंसी एसोसिएशन में, न बुद्धिमान अर्थशास्त्रियों तथा विद्वान् सुधारकों की परिषदों में, न मेहताओं और गोखले लोगों के मस्तिष्कों में, न सुरेन्द्रनाथों व लालमोहनों की जिह्वाओं में, न अंग्रेज़ी वाणी व रीति-रिवाजों के राष्ट्रीयताविहीन नकलची टोप व कोट के नीचे। यह तो कृष्ण के समान बन्दी-गृह में जन्मा था, उन मनुष्यों के हृदयों में जिन्हें निरंकुशता की लाभप्रद सरकार के अधीन भारत असह्य कालकोठरी प्रतीत होता था···और राष्ट्रवाद उन

---

१. श्री हरिदास मुकर्जी ने अपनी पुस्तक 'दी न्यू थाट' में इसे १६ नवम्बर का लेख कहा है, 'आन नेशनलिज्म' में १७ नवम्बर।

कृष्ण के समान ही बढ़ा जो राजसभाओं और ब्राह्मणों के विद्यालयों में नहीं, अपितु निर्धनों और अज्ञानियों के दीन-हीन तथा घृणित घरों में शक्ति व ज्ञान से सम्पन्न हुए। संन्यासी की गुफ़ा में, फ़कीर के वेश के नीचे, उन तरुणों और बालकों के हृदयों में जिनमें से अनेक अंग्रेज़ी का एक शब्द भी नहीं बोल सकते थे, परन्तु जो सब लोग माता के लिए कार्य कर सकते थे तथा बलिदान का साहस रखते थे, उन विद्वानों व प्रतिभाशालियों के जीवन में जिन्होंने मंत्र प्राप्त कर लिया था और धन व यश की लालसा को सद्धर्म के प्रसारार्थ शिक्षा देने व परिश्रम करने के लिए त्याग किया था, राष्ट्रवाद का धीरे-धीरे अपनी वर्तमान शक्ति तक विकास हुआ, चुपचाप बिना किसी का ध्यान गए हुए। और, अन्ततः यह समय आने पर बंगाल में आया, अपनी आत्माभिव्यक्ति के निर्दिष्ट स्थान पर, और तीन वर्षों तक, चुपचाप बिना किसी का ध्यान गए हुए, देश-भर में फैलता रहा, प्रत्येक स्थान पर उन थोड़े से लोगों को एकत्रित करते हुए जो इस कल्पना में समर्थ थे और उस समय की प्रतीक्षा करते हुए जो अवश्य आएगा जब ईमानदारी से अत्याचार प्रारंभ होगा और जब लोग मुक्ति का कोई मार्ग पाने के लिए चारों ओर दृष्टिपात करेंगे।" और जैसे कृष्ण को न पूतना मार सकी, न कंस मार सका, वैसे ही रिपन, फुल्लर, गुंडागर्दी आदि इस राष्ट्रवाद को मारने में असमर्थ हैं।" "राष्ट्रवाद अवतार है और उसे मारा नहीं जा सकता। राष्ट्रवाद शाश्वत भगवान् की दिव्य निर्देश प्राप्त शक्ति है और जिस वैश्विक शक्ति से यह प्रकटी उसमें वापस मिल जाने से पहले यह ईश्वर-प्रदत्त कार्य को अवश्य सम्पन्न करेगी।"

१ दिसम्बर[1] १९०७ के लेख 'श्रीकृष्ण एण्ड आटोक्रेसी' (श्रीकृष्ण व स्वेच्छाचारिता) में श्री अरविन्द ने सामाजिक कार्यकर्ताओं में विनम्रता के गुण की महत्ता पर प्रकाश डाला था और यह प्रतिपादित किया था कि सभी विश्वोपकारक महापुरुषों में जनतांत्रिक प्रवृत्ति वर्तमान रही है। इस लेख में सामान्यतया नेताओं में पाई जाने वाली निरंकुशता, अपने को श्रेष्ठ समझने की प्रवृत्ति तथा अन्य समाज से कटकर रहने की प्रवृत्ति की भर्त्सना अत्यन्त प्रभावी ढंग से की गई थी। युधिष्ठिर के राजसूय यज्ञ के पीछे श्रीकृष्ण की ही योजना थी परन्तु उन्होंने स्वयं उस अवसर पर क्या कार्य लिया था? आगत ब्राह्मणों के चरण धोने का। "मानवता के लिए सभी महान् कार्य करने वालों में जिस गुण की वास्तव में आवश्यकता है, उसकी शिक्षा देने वाला इससे अधिक सुन्दर पाठ विश्व के इतिहास में कहां मिलेगा? उन्हें मानवों से घृणा नहीं करनी चाहिए, उन्हें उनकी भावनाओं को कुचलना नहीं चाहिए, उन्हें उनके मतों को तिरस्कारपूर्वक नहीं देखना चाहिए, उन्हें उनकी सम्पत्ति या जीवन में स्थितियों को ही प्रभुत्वसम्पन्नों के लिए ध्यानयोग्य नहीं मानना चाहिए। उन्हें सबसे मिलना-जुलना चाहिए, सबसे परामर्श

१. श्री हरिदास मुकर्जी के अनुसार २५ नवम्बर।

करना चाहिए और अपनी असामान्य क्षमताओं को उनकी इच्छा-पूर्ति में प्रयोग में लाना चाहिए। वे अपनी उच्चतर बुद्धि से और गहरी अन्तर्दृष्टि से उनके विचारों को सुधार सकते हैं, परन्तु वे जो कुछ कहते हैं, और अपने लिए जो चाहते हैं, उसकी अवहेलना व तिरस्कार करके अधिक नहीं चल सकते।" श्री अरविन्द के और थी अधिक महत्त्वपूर्ण शब्द हैं—"महान् लोग स्थायी रूप से तभी कार्य कर सकते हैं जब वे महान् राष्ट्रों का निर्माण करें, और कोई भी व्यक्ति, चाहे स्वयं भगवान् ही अवतार लेकर क्यों न आ जाए, एक पीढ़ी में ऐसा कार्य नहीं कर सकता। किन्तु जहां राष्ट्र को किसी महापुरुष की आत्मा ने क्षण-भर के लिए जगा दिया था, उस प्रणेता के साथ ही प्रकाश भी चला जाता है और उसके जाने के पश्चात् राष्ट्र भी एक मृत शरीर के समान हो जाता है जिसे जादू की शक्ति से क्षण-भर को कृत्रिम जीवन मिल गया था…।" अन्त में श्री अरविन्द ने लिखा था कि श्रीकृष्ण स्वेच्छाचारी नहीं थे, उन्होंने जो कुछ किया, राष्ट्र को महान् बनाने के लिए किया था, अपनी स्वार्थपूर्ति के लिए नहीं। और "जो राष्ट्र श्रीकृष्ण को अपना आदर्श पुरुष तथा आदर्श कर्मवीर मानता है, वह किसी भी रूप में निरंकुशता को स्वीकार नहीं कर सकता। वे किसी भी स्वेच्छाचारी के सम्मुख, चाहे वह कितना भी शक्तिशाली क्यों न हो, घुटने टेकने के द्वारा अपने अन्दर के देवत्व का अपमान नहीं करेंगे।"

१ दिसम्बर, १९०७[1] के लेख 'दी न्यू फेथ' (नयी श्रद्धा) में राष्ट्रवादी रणनीति की साहसपूर्ण घोषणा की गई थी। जब भारत की जनता कुछ नेताओं के संकेतों पर चलने के स्थान पर अपने सामूहिक निर्णय से स्वतन्त्रता का संघर्ष चलाएगी, यह बताते हुए श्री अरविन्द ने लिखा था—"राष्ट्र सचेत हो गया है और अपने उद्देश्य को जानता है, और व्यक्तियों को, चाहे वे कितने भी गुणी व प्रभावी हों, यह अनुमति नहीं मिलेगी कि वे जनता के मतों के स्थान पर अपने मतों को चलने दें। यथार्थ समस्या क्या है, यह प्रकट हो गया है। किसी प्रकार के समझौते का भी अब प्रश्न ही नहीं है और स्वातंत्र्य-संग्राम एक बार प्रारम्भ हो गया है तो कटु अन्त तक उसे ले जाना ही होगा।" इसमें आने वाले कष्टों की क्या चिन्ता क्योंकि "उत्पीड़न किसी विश्वास को कुचलते नहीं, सशक्त करते हैं और पृथ्वी पर की कोई भी शक्ति, स्वतन्त्रता के बीज को समाप्त नहीं कर सकती—जब वह एक बार ईमानदार तथा निष्ठावान मनुष्यों के रक्त में अंकुरित हो चुका हो।" श्री अरविन्द ने नए युग की आवश्यकता को पूर्ण करने के लिए नए उत्साह, नए विचार वाले मनुष्यों का आवाहन करते हुए कहा था—"भविष्य उन्हीं का है। कार्य की पद्धति है जनता में घुलमिल जाना और इस समय इधर-उधर बिखरे हुए व फैले हुए विचारों व आकांक्षाओं को संगठित करना तथा व्यवस्था देना।"

१. श्री मुकर्जी के अनुसार ३० नवम्बर।

१५. गुजरात-यात्रा की उपलब्धियां

"केवल असीम नित्यब्रह्म
यहां पर है। एक शान्ति आश्चर्यजनक, रूपाहित, स्थिर
सवके स्थान पर छा रही है…"

—श्री अरविन्द कृत निर्वाण' कविता में

"राष्ट्रवाद क्या है ? राष्ट्रवाद एक कार्यक्रम मात्र नहीं है,
राष्ट्रवाद एक धर्म है जो ईश्वर-प्रदत्त है। राष्ट्रवाद एक
सिद्धान्त है जिसे जीवन में उतारना होगा।"

—श्री अरविन्द (वम्बई के भाषण में)

श्री अरविन्द के ही नहीं, राष्ट्र के जीवन में भी १९०७ की सूरत कांग्रेस में हुआ धड़ाका महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुआ।

१९०६ के कलकत्ता-अधिवेशन में यह निश्चित हो गया था कि १९०७ का अधिवेशन नागपुर में होगा किन्तु नरमदलीय नेताओं ने बाद में यह सोचा कि राष्ट्रवाद के गढ़ में जाना अपने लिए संकटपूर्ण है और परिणामस्वरूप अखिल भारतीय कांग्रेस कार्यसमिति की वम्वई में हुई वैठक में नागपुर के स्थान पर सूरत में अधिवेशन का निर्णय ले लिया गया। यह भी स्पष्ट हो गया था कि नरमदलीय नेता 'स्वराज' इत्यादि के प्रस्तावों से पीछे हटने की तैयारी में हैं। श्री अरविन्द ने राष्ट्रवादियों के मन में इस परिवर्तन से उत्पन्न रोष को ठीक दिशा देने के लिए 'दी अवेकनिंग आफ़ गुजरात' (गुजरात की जागृति) शीर्षक से 'वन्देमातरम्' में लिखा था— "…जब सर फीरोजशाह मेहता ने सूरत में अधिवेशन की धोखेबाज़ी की, तो उन्होंने सोचा था कि वे राष्ट्रवाद पर मार्मिक आघात की तैयारी कर रहे हैं किन्तु वे गुजरात में राष्ट्रवादी जागृति का मार्ग ही तैयार कर रहे थे।…अहमदाबाद अधिवेशन में गुजरात में पहली वार राजनीतिक उत्साह आया था…तव स्वदेशी-आंदोलन आया जिससे अन्य राजनीतिक दृष्टि से पिछड़े प्रान्तों के विपरीत गुजरात अत्यधिक प्रभावित हुआ। भूमि तैयार हो चुकी है और शिक्षित गुजरातियों में राष्ट्रवादी भाव फैल ही चुका है। सूरत-कांग्रेस से एक नयी और विजयी प्रेरणा

देने का अवसर मिलेगा जिससे गुजरात का राष्ट्रवाद एक सशक्त कार्यशील व संगठित बल बन जायेगा। राष्ट्रवादी कार्य के लिए गुजरात को पक्ष में लाने का अत्यधिक महत्त्व है।...चाहे सर फ़ीरोज़शाह मेहता सूरत में संख्या में हमसे बढ़ जाएं, चाहे हम कांग्रेस पण्डाल में एक भी प्रस्ताव पारित न करा सकें, तो भी यदि हम गुजरात को यह महान प्रेरणा दे सकें और अपनी बिखरी शक्तियों को आगे महान् संचलन के लिए संगठित कर सकें तो सूरत-अधिवेशन के लिए हम जितनी भी शक्ति और जितना भी व्यय लगा सकेंगे, सफल हो जाएगा। न तो केवल—और न मुख्य रूप से—अधिवेशन में प्राप्त विजयों से अपितु देश में प्राप्त विजयों से ही हमें राष्ट्रवाद की प्रगति आंकनी चाहिए।"

स्थान-स्थान पर जनसभाओं में राष्ट्रवादी कार्यक्रम के समर्थन में प्रस्तावों को पारित करके सूरत कांग्रेस में भिजवाना भी श्री अरविन्द की योजना का एक अंग रहा। ऐसी अनेक सभाओं में उन्होंने स्वयं भी भाग लिया, भाषण भी दिया। सूरत जाते हुए मार्ग में दो दिन के लिए वे नागपुर भी ठहरे थे। वहां पर एक थियेटर में आयोजित सहस्रों की ठसाठस भरी जनसभा में भी उन्होंने भाषण दिया था। 'लोटस एण्ड डैगर' नामक इंग्लैण्ड में बनी क्रांतिकारी संस्था की शपथ लिये एक पुराने परिचित श्री मोरोपंत जोशी से भी उनकी यहां भेंट हुई थी। आश्चर्य की बात यह थी कि जोशी अब बिलकुल भी क्रांतिकारी न थे, नरमपंथी दल में थे।

श्री अरविन्द की इस यात्रा में ही यह स्पष्ट हो गया था कि देश में उनके प्रति कितनी श्रद्धा है। श्री बारीन्द्र घोष ने आत्मचरित में २१ दिसम्बर को की गई इस यात्रा के विषय में लिखा था —"मैंने अरविन्द और श्यामसुन्दर बाबू के साथ यात्रा की। बाम्बे मेल आई। मुझे स्टेशन पर खड़ा देखकर अरविन्द ने बुलाया। जाने पर देखा वे भी तृतीय श्रेणी में हैं...प्रत्येक स्टेशन पर फूल-माला, पूड़ी-मिठाई, और चाय।...किसी ने सोचा भी नहीं था कि देश का इतना बड़ा नेता, गण्यमान्य पुरुष, प्रथम श्रेणी में नहीं तो भी द्वितीय से कम में क्या यात्रा करेगा।...सेजदा[1] के गले की मालाओं से गाड़ी भरी थी।"

२६ दिसम्बर से प्रारम्भ सूरत-कांग्रेस में उस बड़े टकराव की आशंका पहले से थी जिसे कलकत्ता-कांग्रेस में श्री नौरोजी की कुशलता तथा व्यक्तित्व-गरिमा ने टाल दिया था। इस वर्ष के सभापति-पद के लिए लाला लाजपतराय राष्ट्रवादियों के प्रत्याशी थे किन्तु कटुता कम करने के लिए उन्होंने अपना नाम वापस ले लिया था। श्री अरविन्द ने 'वन्देमातरम्' (२० दिसम्बर) में इसे 'भयानक भूल' लिखा था। इससे उनकी मर्मभेदी दृष्टि की महानता समझी जा सकती है। कांग्रेस में राष्ट्रवादी नेताओं की 'सज्जनता' का परिणाम भारत को और भी

---

१. सेजदा अर्थात् मंझला भाई।

अनेक वार भोगना पड़ा है !

लाला लाजपतराय ने नाम वापस ले लिया और डा० रासविहारी घोष निर्विरोध सभापति हो गए तो भी नरमपंथी नेतृत्व की हठवादिता सर्वत्र देखी जा सकती थी। १९०६ के प्रस्तावों से पीछे हटने की पूरी तैयारी थी। अधिवेशन में वंगाल का भारी जत्था आया था। अनेक क्रांतिकारी भी कांग्रेसी के रूप में उपस्थित थे। लोकमान्य तथा लाला लाजपतराय के भी अपने-अपने जत्थे थे। किन्तु सूरत में नरम दल का गढ़ होने से राष्ट्रवादी ११०० प्रतिनिधियों की तुलना में नरमदलीय १३०० प्रतिनिधि एकत्रित होने से, कांग्रेस में क्या निर्णय होगा यह स्पष्ट ही था। तरुण राष्ट्रवादी, विशेषकर वे जो महाराष्ट्र से आए थे, उस नए संविधान को पारित नहीं होने देने के लिए संकल्पवद्ध थे जिसके द्वारा आगे वर्षों तक गरम दल कभी वहुमत में आ ही नहीं सकता था। श्री अरविन्द भी महाराष्ट्रीय तरुणों की इस बात से सहमत थे कि यदि नरमदलीय कहीं भी समझौते को तैयार नहीं हैं तो फिर ऊपरी एकता किस काम की। तिलक और लाला लाजपतराय ऊपरी एकता वनाए रखना चाहते थे क्योंकि उनकी यह धारणा थी कि कांग्रेस भंग होने पर राष्ट्रवादियों के ऊपर सरकार का दमनचक्र चलेगा और वे कुचल दिए जायेंगे। श्री अरविन्द दमनचक्र चलने की वात तो मानते थे परन्तु उनका विश्वास था कि वे कुचले नहीं जा सकेंगे, दमन का सामना करने की सामर्थ्य उनमें है और "चाहे कुछ समय के लिए देश अवसाद के गर्त में गिर भी जाए, फिर भी दमन से जनता के हृदय और मन में गहरा परिवर्तन आ जाएगा और सारे का सारा देश राष्ट्रवाद तथा स्वराज्य के आदर्श की ओर झुक जाएगा। इतिहास साक्षी है कि श्री अरविन्द की दृष्टि सही निकली।

सूरत-कांग्रेस भंग न हो इसके लिए श्री तिलक, लाला लाजपतराय इत्यादि के समान ही श्री अरविन्द भी वड़े प्रयत्नशील रहे किंतु अन्ततः सूरत-कांग्रेस प्रारम्भ होते ही झगड़े के कारण भंग हो गई। इतिहास-ग्रन्थों में इस घटना का विस्तृत वर्णन मिलता है। ब्रिटिश संसद सदस्य नेविन्सन ने इसका प्रत्यक्षदर्शी वर्णन अपनी कृति 'न्यू स्प्रिट इन इंडिया' में किया है।

इस प्रसंग में श्री अरविन्द की यह स्वीकारोक्ति महत्त्वपूर्ण है—"इतिहास उन घटनाओं का उल्लेख कदाचित ही करता है जो निर्णायक होती हैं परन्तु पर्दे की आड़ में घटित होती हैं। वह पर्दे के सामने के चमकीले भाग का ही वर्णन करता है। वहुत ही कम लोग जानते हैं कि मैंने ही (तिलक से सलाह किए विना) आज्ञा दी थी जिसके परिणामस्वरूप कांग्रेस भंग हो गई, और मेरे ही कारण राष्ट्रवादियों ने नवनिर्मित नरमदलीय सम्मेलन में भाग लेने से इनकार कर दिया और सूरत अधिवेशन की ये ही दो निर्णायक घटनाएं थीं।"

२६ दिसम्वर के झगड़े के पश्चात् दोनों दलों की अपनी-अपनी सभायें २८ को

हुई। राष्ट्रवादी दल की सभा का सभापतित्व श्री अरविन्दने किया और मुख्य वक्ता तिलक रहे। नेविसन के शब्दों में—"मुझे स्मरण है कि श्री अरविन्द कुर्सी पर बैठे थे, गंभीर और शान्त, बिना एक शब्द बोले, अचंचल भाव से सुदूर कहीं देखते हुए, मानो वे भविष्य को देख रहे हों। बहुत ही स्पष्ट, छोटे वाक्यों में, बिना वाग्मिता या भावुकता के तिलक बोल रहे थे। संध्या हो आई। तारे उगने लगे तो किसी ने लालटेन जलाकर पास में रख दी।" राष्ट्र-साधना के दो अनन्य साधक, कुरुक्षेत्र में गीता को साकार करने वाले शांत कर्मयोगी !

श्री आर० आर० दिवाकर ने इस घटना पर टिप्पणी करते हुए लिखा है—"सूरत कांग्रेस भंग हो गई, परन्तु उसने इतिहास बना दिया। परिणाम यह हुआ कि नरमपंथ कांग्रेस का शरीर रह गया परन्तु आत्मा उग्रवादियों के साथ चली गई। अगले दस वर्ष तक भारतीय राष्ट्रवाद उस राष्ट्रीय संगठन की सीमाओं के बाहर ही बढ़ता रहा। जब सन् १९१६ में उसने वार किया तो उदारपंथियों को उखाड़ फेंका और वे कांग्रेस के बाहर एक छोटी और कम प्रभाववाली मण्डली की भांति रह गए। वे देश की राजनीतिक शक्ति के रूप में प्रायः समाप्त हो गए थे।"

निस्सन्देह कांग्रेस का कायाकल्प यहीं से प्रारम्भ हुआ। किन्तु ऐसा ही एक महत्त्वपूर्ण कायाकल्प अभी और होना था। श्री अरविन्द यह अनुभव कर रहे थे कि राजनीतिक व्यस्तता के कारण उनकी आध्यात्मिक साधना अव्यवस्थित हो गई है अतः उन्होंने अपने अनुज से यह इच्छा प्रकट की कि किसी ऐसे योग्य योगी से मिला जाए जो मार्गदर्शन कर सके। बारीन ने उस समय ग्वालियर में उपस्थित योगी श्री विष्णु भास्कर लेले को उनके एक शिष्य से तार दिलाया, और बड़ौदा बुला लिया। सूरत में कांग्रेस-भंग के उपरान्त श्री अरविन्द बड़ौदा गए और श्री लेले से ३० मिनट तक बातचीत के पश्चात् भी वे योग-साधना को राजनीति के साथ-साथ ही चलाने को तैयार हो सके, राजनीति छोड़कर नहीं। अन्त में श्री लेले ने, जो अपनी अन्तर्दृष्टि से पहले ही देख चुके थे कि उन्हें एक महान आत्मा को साधना सिखानी है, उनसे अपनी राजनीतिक सक्रियता कुछ दिनों के लिए स्थगित करने की शर्त रखी जो श्री अरविन्द ने स्वीकार कर ली। तब लेले ने बड़ौदा में ही उन्हें सरदार मजुमदार के बाड़े में सबसे ऊपर के एक छोटे से कमरे में मन की नीरवता की स्थिति लाने की अद्भुत पद्धति बताई। विचारों को दूर फेंकने की यह पद्धति अद्भुत थी। श्री अरविन्द के शब्दों में ही—"मुझसे कहा गया—बैठ जाओ और देखो तो तुम्हें दिखाई देगा कि तुम्हारे विचार तुम्हारे अन्दर बाहर से आते हैं। वे प्रवेश करें इसके पहले उन्हें वापस दूर फेंक दो। मैं बैठ गया और देखा तो आश्चर्य-चकित होकर मैंने देखा कि सचमुच ऐसा ही था; मैंने देखा और निश्चित अनुभव किया कि विचार सिर में से या उसके ऊपर से अन्दर प्रवेश करने को बढ़ रहे हैं

और उनके अन्दर आने से पूर्व ही मैं उन्हें निश्चित रूप से वापस फेंक देने में समर्थ हुआ। तीन दिनों में—वास्तव में एक दिन में ही—मेरा मन एक शाश्वत शान्ति से ओतप्रोत हो गया—यह अब भी है।"

श्री अरविन्द को मन की यह जो शांति मिली, उसने उनका अमूल्य कायाकल्प कर दिया। वे तब भी राजनीतिक गतिविधियों में संलग्न रहे। शांति-प्राप्ति से पूर्व उन्होंने बड़ौदा में अनेक महत्त्वपूर्ण व्यक्तियों को प्रभावित करके राष्ट्रवादी विचारधारा के गहरे बीज बोए। उन्होंने वहां तीन भाषण भी तत्कालीन राजनीतिक परिस्थिति के व्याख्यार्थ दिए थे। उस महान् राजनीतिक नेता की तत्कालीन रहन-सहन पर श्री पुराणी की ये पंक्तियां कितनी सटीक हैं—"सरदार मजुमदार ने श्री अरविन्द को एक पशमीना शाल भेंट किया क्योंकि तब कड़ा जाड़ा था और श्री अरविन्द केवल कुर्ता पहने दौरा कर रहे थे और उसके ऊपर कुछ भी न था। उन पर विस्तर भी न था। यात्रा में वे बैठने की सीट पर ही सो जाते थे और तकिए का काम हाथ से निकाल लेते।" किन्तु यह सब मन की शांति प्राप्त हो जाने से पहले हुआ था। जनवरी के द्वितीय सप्ताह में श्री अरविन्द बंबई गए। लेले भी गए। १६ जनवरी को 'बम्बई नेशनल यूनियन' के तत्वावधान में आयोजित विशाल सभा में भाषण देने के पहले श्री अरविन्द ने लेले से पूछा कि शान्त शून्य मस्तिष्क से भाषण कैसे होगा? लेले ने उन्हें प्रार्थना करने की सलाह दी परन्तु श्री अरविन्द उस शान्त अवस्था में प्रार्थना भी नहीं कर सके। तब श्री लेले ने कहा कि वे खड़े होकर उपस्थित जनता को नारायण समझकर नमस्कार करें और तब कोई वाणी अपने आप बोलेगी। श्री अरविन्द ने वैसा ही किया। और तब श्री अरविन्द के शब्दों में ही—"सभा में आते समय किसी ने मुझे समाचार-पत्र पढ़ने को दिया था। जब मैं बोलने को खड़ा हुआ तो उसकी शीर्ष पंक्ति मेरे मन में कौंध गई और तब वाणी का प्रवाह अचानक फूट पड़ा।" वस्तुतः 'वन्देमातरम्' पत्र से स्फुरित यह भाषण[1] गंभीर अन्तःप्रेरणा से निकला होने के कारण इसमें वाक्य-वाक्य असीम आत्मविश्वास से ओत-प्रोत था। इसमें उन्होंने कहा था—"राष्ट्रवाद क्या है? राष्ट्रवाद एक राजनीतिक कार्यक्रम मात्र नहीं है, राष्ट्रवाद एक धर्म है जो ईश्वर-प्रदत्त है। राष्ट्रवाद एक सिद्धान्त है जिसे जीवन में उतारना होगा। केवल बौद्धिक अभिमान से ही कोई अपने को राष्ट्रवादी कहने का साहस न करे, यह समझते हुए कि जो अपने को राष्ट्रवादी नहीं कहते उनसे वह अधिक उच्च है। यदि तुम राष्ट्रवादी बनने वाले हो, यदि तुम राष्ट्रवाद के धर्म से सहमत होने वाले हो, तो यह धार्मिक भावना से करना। तुम्हें स्मरण रखना चाहिए कि तुम परमात्मा के यंत्र हो।" तथा यह भी कि "राष्ट्रवाद अमर है,

१. यह भाषण 'दी प्रिजेंट सिचुएशन' (वर्तमान परिस्थिति) शीर्षक से 'स्पीचेज' (श्री अरविन्द आश्रम, पांडीचेरी) में समाविष्ट है।

राष्ट्रवाद मर नहीं सकता।" इसी भाषण में उन्होंने साधुओं-संन्यासियों से राष्ट्र-जीवन की मिलने वाली प्रेरणा का उल्लेख करते हुए स्वामी रामकृष्ण परमहंस, विपिनचन्द्र पाल के प्रेरक श्री विजय गोस्वामी आदि की चर्चा की थी। उन्होंने इसका भी विश्लेषण किया कि अनेक लोग जो राष्ट्रवाद का विरोध करते हैं, देश-भक्त और ईमानदार होते हुए भी क्यों करते हैं और उनका निष्कर्ष था कि वे निरे बौद्धिक दृष्टिकोण से देखने के कारण ही ऐसा करते हैं। किन्तु इस ईश्वरीय कार्य को केवल बौद्धिक दृष्टि के समझा ही नहीं जा सकता। राष्ट्रीय आन्दोलन के पीछे दिव्य शक्ति की घोषणा का अर्थ 'आध्यात्मिक राष्ट्रीयता' की घोषणा थी और श्री अरविन्द ने यह घोषणा शान्त ब्रह्म में स्थित मन की असाधारण अवस्था आने पर की थी। राष्ट्र को उनका यह महत्त्वपूर्ण योगदान किसी व्यक्तिगत राग-द्वेष या बौद्धिक अभिमान की नहीं, दिव्य प्रेरणा की उपज था, यह स्पष्ट देखा जा सकता है।

धीरे-धीरे आध्यात्मिक राष्ट्रीयता का यह स्वर श्री अरविन्द में अधिकाधिक मुखर होता चला गया और बम्बई से कलकत्ते आने तक उन्होंने पूना, नासिक, धूलिया, अमरावती में अद्भुत प्रभावी भाषण दिए। इस दौरे में डा० मुंजे उनके भाषणों के अनुवादक का कार्य करते रहे। कलकत्ता लौटने के बाद भी उनकी मानसिक शांति वैसी ही बनी रही। हां, आध्यात्मिक साधना अवश्य ऊंची उठती गई।

१६. कालकोठरी के द्वार पर

आंधी तथा कुपित ऋतु से आक्रान्त
मैं गिरि के ऊपर चढ़ता हूं, उन्नत प्राप्त तक जाता हूं।
मेरे साथ कौन चलेगा ? मेरे साथ कौन चढ़ेगा ?
नदी को पार कौन करेगा ? वर्फ पर कौन चलेगा ?
....
मैं प्रभंजन और पर्वत का स्वामी हूं,
स्वातंत्र्य और स्वाभिमान की भावना हूं।
वह होना चाहिए कठोर और संकट का सम्वन्धी
जो मेरे साथ चलेगा, मेरे साम्राज्य में साझा करेगा।

—श्री अरविन्द कृत 'इन्वीटेशन' कविता में

श्री अरविन्द कलकत्ते से लौटने पर, 'वन्देमातरम्' के माध्यम से नये राजनीतिक नेतृत्व के प्रति सम्मान की भावना जगाने में प्रयत्नशील थे, नये राजनीतिक आदर्श का तत्त्वज्ञान प्रतिपादित कर जनता को दीक्षित कर रहे थे—स्वदेशी में, वहिष्कार में, स्वराज में। 'रिवोल्यशन एण्ड लीडरशिप' (क्रांति व नेतृत्व) शीर्षक से—९ फरवरी, १९०८ के लेख में उन्होंने लिखा था—"राजनीतिक नेता का प्रभुत्व अपने अनुयायी लोगों की भावनाओं को अनुभूत करने व व्यक्त करने की क्षमता पर निर्भर करता है, स्वयं उसी पर नहीं। उसका स्थान उसके प्रतिनिधि होने के कारण है, न कि एक व्यक्ति मात्र होने के कारण। यह मानना कि पहले वह नेतृत्व कर चुका है, अतः उसकी वात कानून के रूप में जीवन-भर मानी जाए, राजनीतिक जीवन के मूल सिद्धान्तों की अवज्ञा करना है।...राष्ट्रवाद व्यक्तियों की रचना है और भगवान् से इसे एक ही आदेश मिला है—आगे वढ़ो, वढ़ते रहो—वढ़ते रहो, जब तक वह स्वयं ही इसे उद्देश्यपूर्ति हो जाने के कारण न रोक दे।...वड़े-वड़े नगरों में जिसकी गाड़ी को आज 'वन्देमातरम्' के जयघोषों के मध्य खींचा जा रहा है, और जयमालाएं पड़ रही हैं, कल उपेक्षित हो जाएगा, शायद उसे वोलने भी न दिया जाए। यह सदैव ही हुआ है और इसे कोई नहीं रोक

सकता। कोई भी बैरिस्टर, सम्पादक, प्रोफेसर, जिसे उसके व्यक्तिगत गुण कुछ काल के लिए आगे ले आए हों, क्रांति से यह कैसे कह सकता है—तुम मेरी सेविका बनोगी, या विप्लव से यह कैसे कह सकता है—मैं तुम्हें अपनी निजी प्रशंसा के लिए प्रयोग करूंगा ?…क्रांतियां अपनी गतियों में अनिश्चित होती हैं और पूर्णतः नियंत्रणातीत होती हैं - ईश्वरीय इच्छा ही क्रांतियों का एकमात्र नियम है—जब हमारा कार्य पूर्ण हो जाए तो हमें यह समझ लेना चाहिए और प्रसन्न होना चाहिए कि हमें कार्य को पूर्ण कर लेने दिया गया है।…क्या हम माता की सेवा पुरस्कार-प्राप्ति के लिए करते हैं या क्या हम परमात्मा का कार्य किराए पर करते हैं ? देश-भक्त स्वदेश के लिए जीता है क्योंकि उसे जीना ही चाहिए, स्वदेश के लिए ही मर जाता है क्योंकि देश की यह मांग होती है…।"

२३ फरवरी, १६०८ के वन्देमातरम् में 'स्वराज' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा था—'हम बारीक से बारीक विवरणों पर व्यावहारिकता से कार्य करें, परन्तु कभी यह न भूलें कि यह कार्य स्वयं में ही अपना उद्देश्य नहीं है अपितु स्वदेश के लिए है।…स्वराज पारस पत्थर है और वह हमारे हाथ में है। इससे हम जिसका भी स्पर्श करेंगे, उसे यह स्वर्ण बना देगा।… राजनीतिक स्वातंत्र्य के बिना मानव की आत्मा दलित रहती है…दासों के देश में भी आध्यात्मिक स्वतंत्रता बहुतों को नहीं मिल सकती। थोड़े से लोग योगी बन सकते हैं और अपने परिवेश से ऊपर उठ सकते हैं किन्तु विशाल मानव समूह तो आध्यात्मिक स्वातंत्र्य की दिशा में पग बढ़ा ही नहीं सकता।…यदि हमारे चारों ओर का जन-समूह कष्टग्रस्त है, पतित है, अवनत है तो ईश्वर का अन्वेषक अपने भाइयों की दशा की उपेक्षा कैसे कर सकता है ? संत का लक्षण है सभी प्राणियों पर करुणा और पूर्ण योगी होता है 'सर्वभूतहिते रताः'।… अपनी राजनीतिक स्वतंत्रता से हमें आध्यात्मिक स्वतंत्रता पुनः प्राप्त होगी…।"

२३ फरवरी के ही 'वर्क एण्ड आइडियल' (कार्य और आदर्श) शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा था—"हमें आजकल यह सलाह दी जाती है कि आदर्शों पर झगड़ा न करें अपितु हाथों के सबसे अधिक समीप पड़े हुए कामों को पूरा करें।… हमारा पथप्रदर्शन सामान्य ज्ञान करे न कि कल्पना।… किन्तु आदर्श के बिना कार्य तो कुछ भी नहीं है और अपनी प्रेरक शक्ति से पृथक् होने पर कर्म तो निष्फल हो जाएगा। सामान्य ज्ञान क्या है। सही मार्ग पर चलना या यह कांटों से भरा है इस-लिए इसे छोड़ देना ?…राष्ट्र का उत्थान कुछ कूटनीतिक राजनीतिज्ञों के द्वारा नहीं हो सकता। सेवा की भावना, कर्म की भावना, कष्ट सहन करने की भावना जगानी होगी। जीवन के सामान्य उपयोगितावादी ढर्रे में लोग अपने अतिरिक्त किसी की भी सेवा करने की प्रेरणा अनुभव नहीं करते।…सचमुच का प्रेरक शब्द बोलो तो सूखी हड्डियों में प्राण का संचार हो जाएगा। प्रेरक जीवन जीकर

दिखाओ और इससे सहस्रों कार्यकर्ता निर्मित हो जाएंगे। इंग्लैंड अपनी प्रेरणा शेक्सपीयर और मिल्टन, मिल और बेकन, नेलसन और वेलिंगटन के नामों से प्राप्त करता है। वे न तो रोगी के कमरे में गए, न उन्होंने चर्चों में परोपकारी कार्य किए थे,···परन्तु उनके नामों ने इंग्लैंड में राष्ट्रत्व को संभव कर दिया है, उन्होंने अपने प्रेरक व धारक वल से कार्य और उद्यम का निर्माण कर दिया है।··· आदर्शों के बिना कर्म एक झूठा सिद्धान्त है।"

इसी प्रकार उनके सभी लेखों में प्राणयुक्त सन्देश था। छह महीने की जेल के पश्चात् मुक्त हुए श्री विपिनचन्द्र पाल के स्वागत में १० मार्च, १९०८ को उन्होंने लिखा था—"आज हम वापस आए विपिनचन्द्र पाल का स्वागत नहीं, ईश्वर-प्रदत्त सन्देश के वक्ता का स्वागत कर रहे हैं, उस मनुष्य का नहीं अपितु राष्ट्रवाद के सिद्धान्त की वाणी का।" ७ अप्रैल को 'दी न्यू आइडियल' लेख में उन्होंने राममूर्ति पहलवान के द्वारा असाधारण शक्ति-प्रदर्शन का उल्लेख करते हुए लिखा था —"हमने राममूर्ति को अपने वक्ष पर सारे शरीर के चारों ओर कस कर बांधी गई मजबूत लोहे की जंजीर को तोड़ते हुए देखा, शरीर के माध्यम से कार्य करने वाली इच्छा-शक्ति मात्र के द्वारा। उसी आन्तरिक शक्ति से भारत को वैसी ही मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए।···भारत को वह विश्वास, वह इच्छा जगाने के लिए एक आदर्श की आवश्यकता है, जो उसे प्रयत्नशील बनने की प्रेरणा देगा। यह आदर्श श्री विपिनचन्द्र पाल अपने हर भाषण में अभिव्यक्त कर रहे हैं···यह आदर्श है परमात्मा में मानवता, मानवता में परमात्मा, सनातन धर्म का प्राचीन आदर्श जो पहले कभी भी राजनीतिक समस्या वह राष्ट्र के पुनर्जागरण के कार्य में प्रयुक्त नहीं हुआ था। उस आदर्श को प्राप्त करना तथा विश्व को देना ही भारत का उद्देश्य है।" ३ मई, १९०८ को 'वन्देमातरम्' में उन्होंने लिखा था—"विश्व को भारत की आवश्यकता है, स्वतन्त्र भारत की।"

एक ओर तो श्री अरविन्द ऊपर-ऊपर की राजनीतिक गतिविधियों में सक्रिय थे, दूसरी ओर वे क्रांतिकारियों का मार्गदर्शन भी कर रहे थे। बहुत पहले अनुज वारीन्द्र को श्री अरविन्द ने स्वयं विधिपूर्वक शपथ दिलाई थी। एक हाथ में नंगी तलवार और दूसरे हाथ में गीता लेकर वारीन्द्र ने प्रतिज्ञा की थी—"जब तक मेरे शरीर में प्राण है और जब तक भारत परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त नहीं हो जाता, तब तक मैं क्रांतिकारी कार्य करता रहूंगा। यदि किसी समय मैं दल के किसी शब्द या किसी घटना को बाहर प्रकट कर दूं, तो मेरा प्राण ले लिया जाए।"

वारीन्द्र ने कितने ही देशभक्तों की श्री अरविन्द से भेंट कराई थी और उन्हें दीक्षित कराया था। अन्य क्रांतिकारी कार्यकर्ता भी इसी प्रकार कार्य करते रहते थे। ऐसे ही एक क्रांतिकारी श्री उपेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय ने श्री अमरेन्द्रनाथ चटर्जी

को १९०७ में कलकत्ते में श्री अरविन्द से दीक्षित कराया था। इस अवसर पर श्री अमरेन्द्र के कथनानुसार हुई बातचीत का कुछ विवरण श्री पुराणी ने दिया है जो बहुत रोचक है। श्री अमरेन्द्र से श्री अरविन्द ने पूछा कि उन्हें जिस राष्ट्र कार्य के लिए उपेन्द्र ने बताया है, उसे करने में कोई सन्देह, हिचक या भय तो नहीं है। श्री अमर (अर्थात् अमरेन्द्र) ने स्वयं उनसे कुछ कार्य-सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की और यह भी पूछा कि क्या वे उनके विषय में पहले कुछ सुन चुके हैं। श्री अरविन्द ने बताया कि उन्होंने स्वदेशी-आन्दोलन में बहुत आर्थिक सहयोग दिया है, यह उन्हें पता है किन्तु देश को स्वतन्त्रता दिलाने के लिए मृत्यु के भय को जीतना पड़ेगा और देश के लिए सर्वस्व बलिदान किए बिना केवल चीनी और नमक की राजनीति से स्वतन्त्रता नहीं आ सकती। श्री अमर ने शंका की कि ऐसे कितने लोग मिल पायेंगे। तब श्री अरविन्द ने जो भव्य उत्तर दिया था वह आज भी प्रेरणाप्रद है—"क्या मातृभूमि के लिए आत्माहुति देना इतना कठिन है? जीवन में सुख पाने के लिए लोग कितना कष्ट और परेशानियां सहन करते हैं। देश की स्वतन्त्रता के लिए तो कोई भी बलिदान करना कठिन नहीं होना चाहिए। यदि भारत स्वतन्त्र नहीं होगा, तो मानव भी स्वतन्त्र नहीं होगा। अन्य देशों के लोग केवल अपना स्वार्थ विचारते हैं, किन्तु भारत के लोग तो भारत के विषय में सोचते समय भी सम्पूर्ण विश्व का विचार करते हैं।" श्री अमर ने अपनी मृत्यु से अभयता प्रकट की परन्तु यह सन्देह प्रकट किया कि इतने महान् उद्देश्य के लिए वे अभी अपात्र हैं। उनका प्रश्न था—"ऐसी पात्रता पाने का कोई मार्ग है क्या?" और श्री अरविन्द ने उत्तर के साथ ही दीक्षा भी दे दी—"परमात्मा को आत्मसमर्पण कर दो और भगवती माता के नाम पर भारत की सेवा करते रहो। यही तुम्हारे लिए मेरी दीक्षा है।"

श्री अमर को दीक्षा मिल गई। उनके कथनानुसार इस दीक्षा ने उनके जीवन को ढाल दिया। उनका सारा भय चला गया, आसक्ति भी चली गई। उनमें एक विचित्र शक्ति आ गई। बिना मंत्र के, बिना स्पर्श के, मात्र दर्शन की यह दीक्षा, कितनी प्रभावी थी।

ऐसे पता नहीं कितने भाग्यशाली थे जो श्री अरविन्द से दीक्षा पाकर राष्ट्र-यज्ञ में आहुति देते रहे थे। श्री अरविन्द की पैतृक सम्पत्ति के मानिकतल्ला बागान में बारीन्द्र ने जो गुप्त क्रांतिकारी अड्डा बना रखा था, उसकी गतिविधियां भी तेज़ी से बढ़ती जा रही थीं। यह कहना सत्य है कि श्री अरविन्द 'क्रांतिकारी मार्ग से ही स्वतन्त्रता मिलेगी', यह विश्वास नहीं करते थे किन्तु क्रांतिकारी शक्ति ठीक समय पर राष्ट्रीय संघर्ष में निर्णायक कार्य कर सकती है, ऐसा उनका विश्वास अवश्य था। श्री यतीन्द्रनाथ मुकर्जी नामक प्रसिद्ध क्रांतिकारी के वे घोर प्रशंसक

थे और १९०३ से श्री यतीन्द्र जो 'बाघ' कहलाते थे, उनसे सम्बद्ध थे। प्रसंगवशात यह उल्लेख्य है कि श्री एम० एन० राय नामक विश्वप्रसिद्ध क्रांतिकारी और रेडीकल 'ह्यूमनिज्म' के संस्थापक इन्हीं यतीन्द्र के श्रद्धावान अनुयायी थे।

ऐसे क्रांतिकारी वीरों को अनेक कारणों से राजनीतिक डाके डालने पड़ते थे, हत्याएं करनी पड़ती थीं। श्री तिलक ने क्रांतिकारी नेता कु० सरला घोषाल को स्पष्ट कहा था कि वे इन डाके सदृश बातों को पसन्द नहीं करते क्योंकि राजनीतिक दृष्टि से वे व्यर्थ हैं किन्तु स्वभाव-स्वभाव के अन्तर तथा मन के विकास-क्रम की विभिन्न अवस्थाओं आदि को देखकर वे उनकी खुली आलोचना भी नहीं करते। श्री अरविन्द इससे कुछ अधिक सहानुभूति रखते थे परन्तु फिर भी वे कुछ अधिक धैर्य के साथ शक्ति बढ़ाने की सलाह देते रहते, उस क्षण की प्रतीक्षा करने की, जब अचानक स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष चरम सीमा पर आ जाएगा। किन्तु अधिक भावावेशी बंगाल जल्दबाज़ी का शिकार हो गया और क्रांतिकारी आन्दोलन ने आगे चलकर जन-सहानुभूति प्रायः खो दी। और इसका दुःखद परिणाम यह हुआ कि गांधी जी के नेतृत्व में सशस्त्र संघर्ष की कल्पना भी जाती रही।

अस्तु, उन्हीं दिनों बारीन्द्र घोष ने कलकत्ता में योगी श्री लेले को बुलाया। लेले को यह जानकर बड़ा आश्चर्य हुआ कि उनके शिष्यगण साधना और बम को एक साथ चलाना चाहते हैं। उन्होंने स्पष्ट कहा कि यह नहीं चल सकता। उन्होंने भविष्यद्रष्टा के रूप में यह भी कहा कि भारत स्वतन्त्र अवश्य होगा परन्तु इस मार्ग से नहीं और "यदि तुम लोग यह सब छोड़ नहीं देते, तो असफल भी होगे, भयानक संकटों में भी पड़ोगे, भले ही पूर्ण नाश न हो।" श्री लेले ने क्रांतिकारी प्रफुल्ल चाकी को राजयोगी बनने के लिए अपने साथ चलने की बड़ी प्रेरणा दी किन्तु भारत भक्ति का मंत्र पाए चाकी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। यही नहीं, उन्होंने श्री अरविन्द को भी समझाया, पर श्री अरविन्द उनके कहने पर भी इस मार्ग को छोड़ने को तैयार नहीं थे। श्री लेले ने अन्ततः उन्हें अपने शिष्यत्व से मुक्त कर दिया, अपने उत्तरदायित्व से मुक्ति पा ली, श्री अरविन्द की इच्छा पर ही ऐसा हुआ। श्री अरविन्द ने स्वयं लिखा है—"उन्होंने अपने अंतर की 'वाणी' से प्रेरित होकर मुझे मेरे अन्तर्यामी भगवान् के हाथों में सौंप दिया और उन्हीं की इच्छा के प्रति पूर्ण समर्पण करने का आदेश दिया।" और श्री अरविन्द ने तब से इस सिद्धान्त को निष्ठापूर्वक आजीवन बनाए रखा। कालान्तर में श्री अरविन्द के विकास को श्री लेले आसुरी विकास कहते रहे। श्री अरविन्द समझ गए कि श्री लेले का बौद्धिक विकास कम है और आध्यात्मिक विकास भी सीमित है परन्तु फिर भी वे जीवन-भर उनके प्रति ऋणी बने रहे।

लेले की बारीन्द्र के सामने की गई भविष्यवाणी और नारायण ज्योतिषी की श्री अरविन्द के विषय में की गई भविष्यवाणी सच निकलीं और शीघ्र ही श्री

अरविन्द और वारीन्द्र सरकार के द्वारा वन्दी वना लिए गए। इसका एक संक्षिप्त वर्णन यहां उल्लेख्य है।

कर्ज़न के पश्चात् अंग्रेज़ी शासन का दमन-चक्र इतनी भयंकरता से चला कि वायसराय मिण्टो को तत्कालीन भारत के लिए राज्य-सचिव मॉर्ले ने स्वयं चेतावनी दी थी, "…राजद्रोह के लिए ऐसे भीषण दण्ड !…व्यवस्था तो वनाए रखनी चाहिए परन्तु कठोरता की अधिकता तो व्यवस्था का मार्ग नहीं है। इसके विपरीत यह तो वम का मार्ग है।" ठीक ही कहा गया था, वस्तुतः सरकार ने स्वयं ही युवकों को उत्तेजित करके वम के धड़ाकों का आवाहन किया था।

'संध्या' के सम्पादक ब्रह्मवांधव उपाध्याय को देशद्रोह के अपराध में वंदी वनाने वाली सरकार ने उन्हें कैम्पवेल अस्पताल में मृत्यु के घाट उतार दिया। छोटे से वालक सुशीलसेन को 'वन्देमातरम्' कहने के अपराध में अदालत में कोड़ों से निर्ममतापूर्वक पीटने का आदेश दिया गया था।…और परिणामस्वरूप क्रांतिकारियों के एक कर्ता ने इन घटनाओं का वदला लेने के लिए मुजफ्फरपुर के अन्यायी ज़िला जज 'किंग्सफ़ोर्ड' को मारने का निश्चय किया। दो युवकों ने १० अप्रैल, १९०८ को मुजफ्फरपुर में वम का जो जोरदार धड़ाका किया, उसने सारे देश को और सरकार को चौंका दिया। दुर्भाग्यवश यह वम भूल से दो निर्दोष अंग्रेज महिलाओं की हत्या का कारण वना। इस हत्या ने एक देशभक्ति पूर्ण कृत्य के स्थान पर भारतीय संस्कृति और परम्परा के विरुद्ध एक कुकृत्य का कलंक पाया। 'वन्देमातरम्' ने भी इसकी निन्दा की थी परन्तु अंग्रेज़ों के समाचारपत्र और ऐंग्लो-इंडियन पत्रों ने तो आकाश ही सिर पर उठा लिया। नरमदलीय लोगों ने भी सारी वुद्धिमत्ता को छुट्टी देकर अनावश्यक भर्त्सना की। राष्ट्रवादियों ने काण्ड की निन्दा तो की किन्तु इसे राष्ट्रव्यापी निराशा का परिणाम भी वताया तथा सरकार को इसे चेतावनी मानने का परामर्श भी दिया। सरकार ने क्रुद्ध होकर सैकड़ों घरों तथा सन्देहास्पद स्थानों पर छापे मारने प्रारम्भ किए। श्री तिलक को 'केसरी' में 'वम का रहस्य' शीर्षक लेख लिखने पर राजद्रोह के आरोप में वंदी वना लिया गया।

१० अप्रैल, १९०८ को मुज़फ्फरपुर का वम विस्फोट हुआ था। श्री अरविन्द ने परिस्थिति की गंभीरता को समझकर वारीन्द्र को यह सन्देश भिजवा दिया कि वे अपनी वम-निर्माण-सम्वन्धी गतिविधियों का छोटे से छोटा चिह्न भी मानिकतल्ला में मिटाकर मण्डली सहित अदृश्य हो जाएं। उसके अनुसार काफी सामग्री नष्ट कर दी गई, पृथ्वी में गाड़ दी गई, जला दी गई, कुछ लोगों को इधर-उधर भेज दिया गया परन्तु फिर भी कुछ लोग वहीं वने रहे। १ मई की रात्रि में

थके-मांदे क्रांतिकारी सोए तो प्रभात होने से पहले ही उन्हें पुलिस ने जगा दिया। वारीन्द्र, नलिनीकान्त गुप्त आदि वन्दी वना लिये गए और दो दिन तक लाल-वाजार थाने में रखने के वाद उन्हें अलीपुर जेल में भेज दिया गया।

४ मई की रात्रि अर्थात् ५ मई को प्रात:काल श्री अरविन्द के निवासस्थान (४८, ग्रेस्ट्रीट, कलकत्ता) की तलाशी ली गई। यह निवासस्थान उनके नए पत्र 'नवशक्ति' का कार्यालय था। पुलिस ने घर घेर लिया था और श्री अरविन्द को उनकी वहिन सरोजिनी ने अत्यन्त भयाकुल अवस्था में पुलिस के आगमन की सूचना दी। पुलिस सुपरिन्टेंडेंट क्रेगन के साथ सशस्त्र पुलिस, लाल पगड़ीधारी सिपाही तथा जासूसों की बड़ी सेना से मकान भर चुका था। सरोजिनी पर भी पिस्तौल तान दी गई। वारंट पर हस्ताक्षर कराके श्री अरविन्द को वन्दी वना लिया गया। उनके हाथों में हथकड़ी तो नहीं डाली गई, पर उनकी कमर में रस्सी वांध दी गई। क्रेगन ने कहा—"तुम्हारे जैसे शिक्षित व्यक्तियों का ऐसे गंदे मकान के फर्श पर इस तरह सोना लज्जाजनक नहीं है ?" श्री अरविन्द का उत्तर था—"मैं निर्धन हूं और निर्धन के समान रहता हूं।" व्यंगभरी वाणी में फिर कहा गया—"तो यह सव जाल तुमने धनी वनने के लिए किया है ?" श्री अरविन्द उस मूर्ख से क्या कहते।

प्रातः साढ़े पांच वजे से लगभग साढ़े ग्यारह वजे तक घर की विस्तार से तलाशी ली गई। चिट्ठी-पत्री, कापी-किताबें, कागज-पत्र—के अतिरिक्त दक्षिणे-श्वर से लाई गई मिट्टी, साइकिल, सेफ आदि भी पुलिस द्वारा उपयोगी मानकर ले जाई गई। श्री अरविन्द को ले जाते समय कमर में रस्सी वांधी थी, यद्यपि वाद में श्री भूपेन्द्रनाथ वसु नाम के एक नरमदली नेता के अनुरोध पर उसे खोल दिया गया। 'अमृत वाजार पत्रिका' ने अपने सम्पादकीय में ठीक ही प्रश्न किया था कि इस प्रकार उन पर पुलिस आक्रमण करने की क्या आवश्यकता आ पड़ी थी ? और इससे जनभावना विक्षुब्ध ही हो सकती थी।

वह शनिवार का दिन तो घर से लाए जाने के वाद लालवाज़ार थाने के अतिरिक्त एक मुस्लिम धूर्त जासूस मौलवी शम्स-उल-आलम के प्रश्नोत्तरों में वीत गया। रविवार थाने में वन्दी-रूप में ही वीता, जहां शैलेन वोस, अविनाश भट्टा-चार्य आदि भी वन्दी वना कर लाए गए थे। सोमवार को श्री अरविन्द आदि कमिश्नर के सम्मुख प्रस्तुत किए गए परन्तु उन्होंने कोई भी वयान देने से इनकार कर दिया। मंगलवार को श्री अरविन्द आदि को चीफ़ प्रेसीडेंसी मजिस्ट्रेट के सामने प्रस्तुत किया गया और श्री अरविन्द भी मानिकतल्ला वागान के मालिकों में से हैं, यह पुलिस ने कहा। वाद में मामला अलीपुर के जिला मजिस्ट्रेट की अदालत में चला गया (क्षेत्रीय अधिकार की दृष्टि से)।

श्री अरविन्द ने अपने कारावास की कहानी 'कारा काहिनी, में लिखा है कि

जब वे अलीपुर अदालत से अलीपुर जेल में ले जाए गए तो किसी अज्ञात व्यक्ति ने उनसे कहा था कि अब उन्हें कालकोठरी में रखा जाएगा, अतः यदि उन्हें कोई सन्देश अपने लोगों को देना हो तो वह उनकी सहायता कर सकता है।" श्री अरविन्द के शब्दों में—"मैं इस तथ्य का उल्लेख अपने देशवासियों की अपने प्रति सहानुभूति तथा अनमांगे मिली कृपा के उदाहरण रूप में कर रहा हूं।"

चार दिन बाद बन्दियों को स्नान करने को मिला—"···चार दिन बाद स्वर्गीय आनन्द था···मैं भी अपनी एकांत कोठरी में चला गया। द्वार बन्द हो गए, और अलीपुर में मेरा बंदी-जीवन प्रारम्भ हो गया······।"

१७. ईसा की वापसी

"....इस विवाद के नीरवता में खो जाने के बहुत समय पश्चात्, इस अशान्ति व विक्षोभ के समाप्त हो जाने के पश्चात्, उसके देहावसान और चले जाने के बहुत समय पश्चात्, उसे देशभक्ति का कवि, राष्ट्रीयता का अग्रदूत तथा मानवता का प्रेमी—इन रूपों में देखा जाएगा।"

—श्री चित्तरंजनदास (मुकदमे में भाषण का एक अंश)

"मैंने अमर वे सुहाने नेत्र देखे हैं प्रिय के
उन्मादकारी बांसुरी का राग भी सुना है सदा
विस्मय का महा आनन्द कभी नहीं मरता है
कसक एक उठती है, मौन रह जाती है।"

—श्री अरविन्द ('कृष्ण' कविता में)

श्री अरविन्द शुक्रवार ५ मई, १९०८ को वन्दी वनाए गए थे और ५ मई, १९०९ को न्यायालय से निर्दोष घोषित होने पर ६ मई को अलीपुर जेल (चौबीस परगना) से मुक्त हुए। पूरे एक वर्ष का यह वन्दी-जीवन श्री अरविन्दकृत 'कारा काहिनी' में विस्तार से वर्णित है। प्रारम्भ में ही उन्हें एकान्त में रखा गया था—कालकोठरी में। कुछ समय पश्चात् उन्हें व अन्य वन्दियों को साथ-साथ भी रखा गया किन्तु वन्दी क्रांतिकारी कन्हईलाल दत्त तथा सत्येन्द्र वोस द्वारा सरकारी गवाह वन गए विश्वासघाती नरेन्द्रनाथ गोस्वामी को जेल में ही गोली का शिकार वना देने की अद्भुत साहसपूर्ण घटना (३१ अगस्त, १९०८) के पश्चात् श्री अरविन्द को ही नहीं, सभी वन्दियों को पृथक्-पृथक् कालकोठरियों में वंद कर दिया गया था।

नौ फुट लम्वी और छह फुट चौड़ी उस काल कोठरी में वायु का अभाव, मई की भीषण धूप का प्रभाव, टीन की वाल्टी में पीने का गरम जल, भोजन के नाम पर लपसी इत्यादि के मध्य भी श्री अरविन्द का मन शान्त था। उन्हें चिंतन और

साधना का अद्‌भुत अवसर मिला। उन्होंने एक-एक क्षण का सदुपयोग गीता और उपनिपदों के तत्त्वज्ञान को आचरण में लाने, उसके अनुसार जीने में बिताने का प्रयत्न किया और फलस्वरूप जब वे जेल से बाहर निकले तो एक वर्ष में ही वे 'एक नवीन अरविन्द' हो गए थे—एक नवीन मनुष्य, नवीन चरित्र, नवीन बुद्धि, नवीन प्राण, नवीन मन तथा नवीन दायित्व वाले श्री अरविन्द।

श्री अरविन्द के लिए यह एक वर्ष अद्‌भुत घटनाओं व अनुभवों से पूर्ण सिद्ध हुआ। सरकार ने उन्हें मुजफ्फरपुर बमकाण्ड के ४२ बंदियों में सबसे महत्त्वपूर्ण अपराधी सिद्ध करने के लिए पूरा प्रयत्न किया और धनी-निर्धन, देशी-प्रवासी सभी प्रकार के राष्ट्रभक्तों ने उनको बचाने के लिए हार्दिक प्रयत्न किया। बहिन सरोजिनी द्वारा उनके बचाव के लिए धन-संग्रह की अपील पर २:००० रुपये एकत्र हो गए। इण्डियन पीनल कोड की धाराओं १२१ अ, १२२, १२३ तथा १२४ के अन्तर्गत उन पर राजद्रोह व षड्‌यन्त्र करने तथा बंगाल का लेफ्टीनेण्ट गवर्नर फ्रेजर जिसमें यात्रा कर रहा था उस रेलगाड़ी को नष्ट कर देने, चन्द्रनगर के महापौर के घर में बम फेंकने, ढाका के जिला मजिस्ट्रेट ऐलेल पर गोली चलाने तथा किंग्सफोर्ड की हत्या के लिए खुदीराम व प्रफुल्ल चाकी को भेजने के भीपण आरोप थे। अलीपुर के जिला मजिस्ट्रेट बिर्ले की अदालत में १९ मई, १९०८ को मुकदमा प्रारम्भ हुआ। नार्टन सरकारी वकील था। बन्द गाड़ी में अभियुक्तों को अदालत में लाया जाता तो ऐसी परिस्थिति में भी उन देशभक्तों की आनन्द-विनोदपूर्ण बातचीत और अट्टहासों में जीवन फूटा पड़ता। अभियुक्तों के बैरिस्टर व्योमकेश चटर्जी के प्रयत्न क्या करते जब बिर्ले और नार्टन दोनों पहले से ही मात्र न्याय-नाटक कर रहे हैं, यह दिखाई पड़ने लगा था। १९ अगस्त, १९०८ को मुकदमा सेशन्स सुपुर्द कर दिया गया। अब अलीपुर के अतिरिक्त सेशन्स जज श्री सी० पी० बीचक्राफ्ट के न्यायालय में मुकदमा प्रारम्भ हुआ। श्री बीचक्राफ्ट भी उस समय कैम्ब्रिज के किंग्स कालिज के विद्यार्थियों में रहे थे जिस समय श्री अरविन्द वहां छात्र थे। यही नहीं, आई० सी० एस० परीक्षा में ग्रीक भाषा में श्री अरविन्द ने श्री बीचक्राफ्ट को पछाड़ भी दिया था।

उन्हीं बीचक्राफ्ट के न्यायालय में १९ अक्तूबर से कार्यवाही प्रारम्भ हुई। धन समाप्त होता देखकर अभियुक्तों के वकील चक्रवर्ती और के० एन० चौधरी अदृश्य हो गए। और तब केवल श्री चित्तरंजनदास ही रह गए जिन्होंने अपनी विद्वत्ता से ही नहीं, अपने त्याग से भी वकालत का अनुपम उदाहरण प्रस्तुत किया। १० मास तक बिना किसी फीस के वे श्री अरविन्द के मुकदमे में डूबे रहे। और जब मुकदमा समाप्त हुआ तो श्री चित्तरंजनदास की घोड़ा-गाड़ी बिक चुकी थी और वे स्वयं ५०००० रुपए के ऋणी हो चुके थे। यही नहीं, इन दिनों अन्य किसी भी मामले को हाथ में न लेने के कारण उनकी आय समाप्त हो चुकी थी। ऐसे थे चित्तरंजन

दास, तभी तो वे 'देशबन्धु' कहलाए।

इस मुकदमे में २०६ गवाहों के प्रश्नोत्तर हुए और पुलिस द्वारा ४००० दस्तावेजों तथा ५००० द्रव्य-प्रमाणों—बम, बन्दूक, विस्फोटक, रासायनिक द्रव्य आदि—को प्रस्तुत किया गया। मृणालिनी के नाम श्री अरविन्द के पत्रों में षड्यन्त्र का प्रमाण खोजने का प्रयत्न किया गया क्योंकि श्री अरविन्द ने 'इस धर्म कार्य में' सहयोग मांगा था। श्री चित्तरंजनदास ने इस आरोप को काटते हुए कहा कि यह तो गहरे आध्यात्मिक विश्वास से भरी उक्ति है जिसमें हिन्दू धर्म के अनुसार परमात्मा के प्रति समर्पण और यंत्र मात्र होने की भावना स्पष्ट दिखाई देती है। ऐसे ही 'सहधर्मिणी', 'ब्रह्मतेज' आदि शब्दों की भी व्याख्या करनी पड़ी थी।

श्री चित्तरंजनदास की ओजस्वी तर्कशैली के कारण सरकारी गवाह बने क्रांतिकारियों आदि के वक्तव्यों से श्री अरविन्द को दोषी मानने का तर्क निरस्त हो गया और अंततः जूरी लोगों पर श्री अरविन्द की निर्दोषता प्रमाणित हो गई। श्री चित्तरंजनदास के आठ दिन चलने वाले भाषण का अंतिम अंश ऐतिहासिक महत्त्व ही का है और स्वतंत्रता, मानव-सम्मान अथवा श्री अरविन्द में रुचि रखने वालों के लिए सदैव रोचक रहेगा। उन्होंने पहले तो श्री अरविन्द के विचारों को इस प्रकार प्रस्तुत किया था—

"यदि यह कहा जाए कि मैंने अपने देश के लिए स्वतन्त्रता के आदर्श का उपदेश किया और यह कानून के विरुद्ध है, तो मैं अपराधी हूं। यदि यह यहां कानून है, तो मैं कहता हूं कि मैंने ऐसा किया है और मैं आपसे निवेदन करता हूं कि आप मुझे दण्ड दें किन्तु मुझ पर वे अभियोग मत लगाइये जिनका मैं दोषी नहीं हूं, ऐसे कार्यों का आरोप मत लगाइये जो मेरे स्वभाव के विरुद्ध हैं और जो मेरी मानसिक क्षमता को देखते हुए मेरे द्वारा हो ही नहीं सकते। यदि स्वतन्त्रता के आदर्श का उपदेश देना अपराध है तो मैं स्वीकार करता हूं कि मैंने यह किया है। मैंने इसे कभी अस्वीकारा नहीं है। इसी के लिए मैंने जीवन के सभी सुयोगों को त्यागा है। इसी के लिए मैं कलकत्ता आया, इसी के लिए जीने और श्रम करने के लिए।···किन्तु मैं कहने का साहस करता हूं कि स्वतन्त्रता के आदर्श का उपदेश करना कानून की दृष्टि में कोई अपराध नहीं है···।"

यहां यह उल्लेख्य है कि "श्री अरविन्द ने अदालत में सार्वजनिक वक्तव्य नहीं दिया था। न्यायाधीश के पूछने पर उन्होंने कह दिया था कि वे अपना अभियोग अपने वकीलों के ऊपर छोड़ना चाहते हैं, उनकी ओर से सब बात वकील ही कहेंगे।"[1] अतः यह वक्तव्य भी श्री चित्तरंजनदास द्वारा ही तैयार किया गया होगा।

---

१. श्री अरविन्द अपने तथा श्री माताजी के विषय में (पृष्ठ ४८)।

तत्पश्चात् श्री चित्तरंजनदास ने कहा था—"अतः मेरा आपसे निवेदन है कि इस प्रकार का यह व्यक्ति, जिसके ऊपर आरोपित अभियोग लगाये गये हैं, केवल इस न्यायालय के सामने ही नहीं अपितु इतिहास के उच्च न्यायालय के सामने खड़ा है। मेरा आपसे निवेदन है कि इस विवाद के नीरवता में खो जाने के बहुत समय पश्चात्, इस अशान्ति, व विक्षोभ के समाप्त हो जाने के बहुत समय पश्चात्, उसके देहावसान और चले जाने के बहुत समय पश्चात्, उसे देशभक्ति का कवि, राष्ट्रीयता का अग्रदूत तथा मानवता का प्रेमी—इन रूपों में देखा जाएगा। उसके दिवंगत हो जाने के बहुत समय पश्चात् उसके शब्द ध्वनित और प्रतिध्वनित होंगे—न केवल भारत में अपितु सुदूर क्षेत्रों और देशों में। इसीलिए मैं कहता हूं कि यह मनुष्य इसी न्यायालय के सामने नहीं अपितु इतिहास में उच्च न्यायालय के सामने खड़ा है। श्रीमान्, अब वह समय आ गया है जब आप अपने निर्णय पर विचार करें, मैं आपसे अंग्रेज़ इतिहास के गौरवमय अध्याय के नाम पर निवेदन करता हूं। आगे कहीं यह न कहा जाय कि एक अंग्रेज़ न्यायाधीश न्याय की स्थापना करना भूल गया।"

और फिर जूरियों को सम्बोधित करते हुए उन्होंने कहा था—"और आप महानुभावों को मैं उस आदर्श के नाम पर जिसका अरविन्द ने उपदेश दिया तथा अपने देश की परम्पराओं के नाम पर अपील करता हूं। आगे कहीं यह न कहा जाय कि उसके दो स्वदेशवासी आवेगों व पूर्वधारणाओं से हार गए और उस क्षण के कोलाहल के सामने झुक गए।"

आज हम इसे पढ़कर श्री चित्तरंजनदास की कालवेधी दृष्टि तथा वक्तृता की दिव्यता पर आश्चर्य करने को बाध्य हैं। लगता है कि मानो कोई दैवी शक्ति ही उनके माध्यम से बोल रही थी। और यह सच भी था, जैसा कि हम आगे देखेंगे।

परिणामस्वरूप नार्टन के दुर्भाग्य से और राष्ट्रभक्तों के सौभाग्य से दोनों भारतीय जूरियों ने उन्हें निर्दोष घोषित किया। गुरदास बोस ने लिखा था—"अरविन्द घोष के भाषण और निबन्ध, जो प्रस्तुत किए गए, हानिकारक नहीं हैं, क्योंकि वे सरकार से लाठी लेकर लड़ाई का परामर्श कहीं नहीं देते। वन्देमातरम् तथा दूसरे पत्रों में लिखी गई राजद्रोहात्मक सामग्री से उनका सम्बन्ध प्रमाणित नहीं हो सका। श्री अरविन्द जैसा विद्वान् और बुद्धिमान व्यक्ति बम के लड़कपन से अंग्रेजी राज्य को उखाड़ फेंकने के कार्य की सफलता में विश्वास करेगा यह अविश्वसनीय है। ऐसे कार्यों में उन्हें फंसाने का प्रयत्न निरर्थक ही रहा, अतः मैं उनको निर्दोष समझता हूं।"

श्री बीचक्राफ्ट ने जूरियों के निर्णय का आदर करके श्री अरविन्द को निर्दोष घोषित कर दिया। ६ मई, १९०९ को वे मुक्त कर दिए गए—साथ में अनेक क्रांतिकारी छूटे। किन्तु उपेन्द्र, अविनाश, हेमचन्द्र आदि को कालेपानी का दण्ड

मिला और वीरेन्द्र व उल्लासकर को फांसी की सजा मिली। हाईकोर्ट में अपील पर फांसी की सज़ा कालेपानी में वदल गयी।

कारागृह में श्री अरविन्द की असाधारणता की छाप भी प्रायः सभी पर पड़ी थी। उनको कालकोठरी से वाहर थोड़ी सी जगह में प्रातः-सायं कुछ देर भ्रमण करने की छूट भी डा० डेली की कृपा से मिल गई थी। इसी प्रकार उन्हें गीता व उपनिषद् पढ़ने की सुविधा भी मिल गई थी। जेल में योगाभ्यास व ध्यान में उन्हें स्वामी विवेकानन्द के द्वारा प्रत्यक्ष मार्गदर्शक मिलना स्वयं श्री अरविन्द ने स्वीकारा है—"यह तथ्य है कि जेल में अपने एकान्त ध्यान में पन्द्रह दिन तक मैं विवेकानन्द की अपने प्रति वाणी निरन्तर सुनता रहा तथा उनकी उपस्थिति अनुभव करता रहा...यह वाणी आध्यात्मिक अनुभूति के एक विशेष व सीमित परन्तु महत्त्वपूर्ण क्षेत्र के विषय में वोलती रही, और जैसे ही उस विषय पर जो कुछ कहना था, कह चुकी, तभी बन्द हो गई।" यह विषय विज्ञान-चेतना (जिसे श्री अरविन्द ने 'अतिमानस चेतना' नाम दिया है) का था ऐसा श्री अरविन्द ने अन्यत्र वताया है।

उन्हें वहां एक दिन उत्थापन-सिद्धि के विषय में जिज्ञासा हुई और उन्हें शीघ्र ही उसका अनुभव हुआ—शरीर पृथ्वी से ऊपर उठकर अधर में ठहरा रहा।

उन्हें एक वार तीव्र मलेरिया ज्वर हो गया। कुनैन तो वे ले चुके थे परन्तु भीषण पीड़ा थी। कालकोठरी की सलाखों में से उन्होंने पानी मांगा। जो ठंडा पानी मिला उसे पीकर वे अचेत-से पड़े रहे। शीघ्र ही ज्वर उतर गया।

अलीपुर जेल में उन्होंने एक वार दस दिन का उपवास भी किया। दिखने में वे दुर्वल लगने लगे परन्तु उन्हें व्यवहार में शक्ति कुछ अधिक लगने लगी। उनके शब्दों में "अव भरा घड़ा सिर पर उठाकर स्नान कर सकता था, जो पहले नहीं कर पाता था।"

एक वार स्काटलैंडवासी वार्डर ने कोठरी में वन्द होने के लिए जाते समय की भीड़भाड़ में श्री अरविन्द को धक्का दे दिया। नवयुवक वन्दियों को वड़ा क्रोध आया। श्री अरविन्द ने उसे देखा-भर था कि नेत्रों से भयभीत वह भागकर जेलर को वुला लाया। जेलर शांत प्रकृति का था। अतः उसने [illegible] व[illegible] समाप्त करा दिया। श्री अरविन्द ने वाद में कहा था—"यदि उस समय मैंने कहीं क्रोध कर दिया होता, तो भयंकर दुष्परिणाम होता।" किन्तु इस दुष्परिणाम को साधारण अर्थ में ही कहना उन्हें अभीष्ट था अतः उन्होंने स्पष्टीकरण भी दिया था—"उससे मेरा अर्थ रुद्र-भाव से नहीं है जिसे मैंने कई वार अनुभव किया है।"

जैसे श्री अरविन्द के नेत्रों से वड़ौदा कालिज के अंग्रेज प्रिंसिपल प्रभावित रहे थे, वैसे ही वंगाल का तत्कालीन लेफ्टीनेंट गवर्नर वेकर भी प्रभावित हुआ था,

परन्तु उसे वे पागलों जैसे नेत्र लगे। चारुचन्द्र दत्त ने उसे बड़ी कठिनाई से समझा पाया था कि ये योगी के नेत्र हैं, पागल के नहीं।

जेल-जीवन में ही उनकी कला-समीक्षा की क्षमता जागी। इसे भी वे योग की ही देन मानते थे—"मैं मूर्तिविज्ञान के विषय में कुछ जानता था किन्तु चित्र-कला से अनभिज्ञ था। अचानक एक दिन अलीपुर जेल में ध्यान करते समय मैंने कोठरी की दीवारों पर कुछ चित्र देखे और मैं चित्रकला के विषय में, उसकी तक-नीक के द्रव्यात्मक पक्ष को छोड़कर, सब कुछ जान गया। मुझे सदैव यह तो नहीं समझ में आता कि कैसे अभिव्यक्त करूं क्योंकि ठीक तकनीक की जानकारी नहीं किन्तु तीक्ष्ण तथा विवेकपूर्ण मूल्यांकन में वह बाधक नहीं है। अतः यह समझो कि योग से सब कुछ संभव है।"

कुछ शिष्यों के साथ पंचानन तर्कचूड़ामणि नाम के एक संस्कृत विद्वान् भी जेल में थे। एक दिन अविनाश ने श्री अरविन्द से उपनिषद् के कुछ अंशों की व्याख्या पूछी और फिर श्री पंचानन को सुनायी। पंचानन महोदय ने स्वीकार किया कि श्री अरविन्द ने ऐसी सरल व्याख्या कर दी थी जैसी वे स्वयं भी नहीं कर पाते।

उन दिनों श्री अरविन्द के केश बहुत चमकते रहते। उपेन बनर्जी को उत्सुकता हुई किन्तु श्री अरविन्द ने उन्हें बताया कि साधना के प्रभाव से, तेल के अभाव में भी, बालों की कान्ति बढ़ गई है।

इस प्रकार जब ज्ञान, भक्ति, कर्म—सभी में श्री अरविन्द योग-साधना से लाभ उठा रहे थे उन्हें ईश्वर-साक्षात्कार हुआ। इसका भव्य वर्णन उन्होंने उत्तर-पाड़ा भाषण में स्वयं किया था। उन्हें सर्वत्र भगवान् ही भगवान् है—देशी, विदेशी, जड़-चेतन, अच्छे-बुरे, छोटे-बड़े सभी में—यह प्रत्यक्ष अनुभूति हुई। उनके हृदय के, बुद्धि के कपाट असाधारण रूप से खुल गए। उन्हें भगवान् ने बड़ी आत्मीयता से समझाया कि वे यन्त्र मात्र हैं। भगवान् उनसे आगे क्या कार्य कर लेने वाले हैं, यह भी उन्हें स्पष्ट कर दिया गया। यह अनुभव इतना चमत्कारी, इतना अविश्व-सनीय किन्तु चमकदार सत्य और इतना दिव्य प्रभाव छोड़ने वाला था कि श्री अरविन्द का पूर्णतया रूपान्तरण ही हो गया।

श्री अरविन्द के बन्दी जीवन के कुछ और चित्र सामने लाने के लिए निम्न-लिखित पंक्तियां, जो स्थान-स्थान से अवतरित हैं तथा श्री अरविन्द की ही वाणी है, विशेष महत्त्व की प्रतीत होती हैं—

" जहां तक दिव्य आनन्द की अनुभूति का प्रश्न है, सिर, पैर, या शरीर के किसी भाग पर लगने वाली चोट को पीड़ा के शारीरिक आनन्द या मात्र पीड़ा या आनन्द या शुद्ध शारीरिक आनन्द के रूप में अनुभूत किया जा सकता है।...काल-

कोठरी में वहुत ही भयानक लाल रंग के योद्धा चींटों ने आक्रमण किया और मुझे खूब काटा। वाद में मैंने अनुभव किया कि पीड़ा और आनन्द कुछ नहीं, केवल हमारी इन्द्रियों द्वारा वस्तुओं को अनुभव करने की रूढियां हैं।

"पास की गोशाला के बन्दी मेरे कमरे के सामने से गाय चराने को ले जाते थे। मेरे लिए गौ और गोपालकों का दृश्य नित्य प्रिय था। अलीपुर की जेल में मैंने अपूर्व प्रेम की शिक्षा प्राप्त की।...अलीपुर में रहकर मैंने जान लिया कि हर प्रकार के जीव-जन्तुओं के प्रति मनुष्य के हृदय में कैसा गंभीर प्रेम उत्पन्न हो सकता है। कभी-कभी गाय, चिड़ियां अथवा चींटी तक को देखकर मनुष्य का हृदय कैसे तीव्र आनन्द के साथ फड़क उठता है!

"इस अलीपुर की जेल में रहते समय हमारे देश के कैदी, हमारे देश से कृषक, लोहार, कुम्हार, डोम इत्यादि सव का समान भोजन, समान रहन-सहन, समान कष्ट, समान मान-मर्यादा पाकर मैंने समझ लिया कि इस साथ, इस एकता और देश-व्यापी भ्रातृभाव के द्वारा सर्वान्तर्यामी नारायण मेरे जीवन को सार्थक कर रहे हैं...मेरे हृदय में उस शुभ दिन का पूर्वाभास उत्पन्न हुआ जिस दिन जगद्रूपिणी जगज्जननी के पवित्र मंडप में देश की सव श्रेणियों के लोग भ्रातृभाव से एक प्राण होकर जगत् के सम्मुख उन्नतमस्तक होकर खड़े होंगे, उस दिन का चिन्तन कर मैं वार-वार हर्षित और प्रफुल्लित हो उठता था।"

अदालत चलते समय श्री अरविन्द कितने महत्त्व का काम कर सकते थे इसका वर्णन श्री नलिनीकांत गुप्त ने इस प्रकार किया है—"इसके वीच श्री अरविन्द एक कोने में अलग वैठे रहते—हममें से किसी को कोई जिज्ञासा होने पर वह उनके पास जाता। एक दिन हमने साधारण सभा वुलाई, अर्थात् श्री अरविन्द से हमने कुछ कहने का अनुरोध किया—इसी कोर्ट में ही और कोर्ट के काम-काज के समय में ही। श्री अरविन्द तैयार हुए। उनके व्याख्यान का विषय रहा—राष्ट्रवाद तथा गुणत्रय। इसी भाषण को ही उन्होंने जेल से निकलकर लिखा था और वह पत्रिका में छपा भी था। अव वह 'धर्म और जातीयता' नामक ग्रन्थ में अन्तर्भुक्त है।"

यही नहीं—"श्री अरविन्द को वहुत-सा समय अपने कौंसिल (देशवन्धु) चित्तरंजनदास को देना पड़ता, क्योंकि उन्हें अपना वक्तव्य लिखकर वताना पड़ता। देखा है, वहां उन्हें पैंसिल और फुलस्केप कागज़ दिया जाता। वहीं वैठकर वे लिखते जाते। रोज़ ही वहुत कुछ लिखते।...चित्तरंजन ने अपने भाषण में इन सवको जोड़ा भी था। मूल पाण्डुलिपि रहने पर आज वह अमूल्य संपत्ति होती।"

एक रोचक प्रकरण श्री नलिनीकांत गुप्त की ही भाषा में और—"एक दिन मैंने उनसे कहा, "अंग्रेज़ी कविता पढ़ने की इच्छा होती है, वहुत दिन से नहीं पढ़ी। आप क्या सहायता करेंगे?" दूसरे दिन ही एक नई कविता लिखकर लाये और मुझे दे दी। कागज़ नहीं था। एक पुरानी चिट्ठी के आसपास लिखकर लाये थे।

उसकी अन्तिम दो पंक्तियों ने मेरा मन विशेष रूप से आकर्षित किया था। आज और कुछ याद नहीं—कहने की बात नहीं कि वह कविता आज लुप्त सम्पदा है।"

श्री अरविन्द ने वहीं पर बमवादियों का पक्ष लेकर चार लेख लिखे थे—'बम का सन्देश' (दी मैसेज आफ़ दी बाम्ब), 'बम की नैतिकता' (दी मॉरलिटी आफ़ दी बाम्ब), 'बम का मनोविज्ञान' (दो साइकोलोजी आफ़ दी बाम्ब) तथा 'बम की नीति' (दी पालिसी आफ़ दी बाम्ब)। श्री नलिनीकांत गुप्त ने उन लेखों को बाहर किसी मित्र को भिजवाया जिसने उन्हें पुलिस से सुरक्षित रखने के लिए पृथ्वी में गाड़ दिया और कुछ समय बाद वे दीमकों के द्वारा नष्ट हो गए।

"जेल की भाषा में लपसी का अर्थ मांड मिला हुआ भात है।···लपसी के तीन स्वरूप अथवा उसकी तीन अवस्थाएं हैं। पहले दिन लपसी का प्राज्ञभाव अर्थात् अमिश्रित मूल पदार्थ, शुद्ध शिव मूर्ति दिखाई पड़ी। दूसरे दिन लपसी हिरण्य गर्भ दाल में उबली हुई पीतवर्ण नामधर्मसंकुल खिचड़ी के नाम से प्रसिद्ध हुई, किन्तु तीसरे दिन धूम्रवर्ण लपसी का विराट् रूप जिसमें कुछ गुड़ मिला हुआ था, दिखाई पड़ा। यह लपसी कुछ-कुछ मनुष्य के खाने योग्य थी। मैंने यह समझ-कर कि प्राज्ञभाव और हिरण्यगर्भ साधारण मनुष्यों के लिए नहीं हैं, उन्हें न खाया; किन्तु विराट् के कभी-कभी एक-दो कौर पेट में डालकर ब्रिटिश राज्य के सद्गुण और पाश्चात्य सभ्यता के लोकोपकारवाद के उच्च आदर्शों को सोचकर मैं आनन्द-मग्न हो जाता था।"

'कारा काहिनी' में श्री अरविन्द ने अपने साथ के युवक देशभक्त बन्दियों के विषय में ठीक ही लिखा था—"उनकी यह सरल निर्भीक दृष्टि व तेजस्वी लहजे, वह मस्त आनन्दमय अट्टहास, भावना की वही तेजस्विता जो इतने गंभीर संकट में भी अडिग रही थी, वही मानसिक प्रसन्नता, विषण्णता, चिंता व संताप का अभाव—ये सब अज्ञान और निष्क्रियता में डूबे भारतीयों के नहीं, एक नवीन युग, एक नवीन जाति, एक नयी कर्मधारा के लक्षण थे। यदि वे लोग हत्यारे थे, तो भी यह कहना पड़ेगा कि हत्या की राक्षसी छाया उनके स्वभाव पर नहीं पड़ी थी। क्रूरता, उन्मत्तता, पाशविकता का उनमें कोई चिह्न तक न था।···बहुत शीघ्र ही वे जेल-अधिकारियों, सिपाहियों, अपराधियों, यूरोपीय सारजेंटों, जासूसों व अदा-लती अधिकारियों से मित्र-जैसे घुल-मिल जाते और छोटे-बड़े, शत्रु-मित्र का कोई भेदभाव न करते हुए सभी को कहानी-किस्से सुनाते और सबसे हास-परिहास करते।" मुकदमे की उन्हें बिलकुल भी चिन्ता न थी, परन्तु वहां समय काटने के लिए बातें भी करना संभव न था। अतः उन्होंने एक विधि निकाली—"तब यह दृश्य उपस्थित हुआ। मुकदमे की सुनवाई हो रही है। तीसों-चालीसों लोगों का भाग्य दांव पर लगा है। परिणाम फांसी या आजन्म कालापानी होने वाला है।

तो भी विना इस सवकी चिन्ता किए हुए वे पढ़ते हुए दिखाई पड़ रहे हैं—वंकिम के उपन्यास, विवेकानन्द कृत राजयोग, गीता, पुराण, या यूरोपीय दर्शन।"

सचमुच वे कैसे उद्‌भट वीर थे! फांसी की सज़ा पाने पर उल्लास ने हँसकर कहा था—"भला हो भगवान् का, यह अदालती स्वांग समाप्त तो हुआ!" जव एक नया यूरोपीय वार्डर इस पर आश्चर्य करने लगा—"कैसा व्यक्ति है, फांसी लगने वाली हूं और हँस रहा है।" तव दूसरे अनुभवी यूरोपीय साथी ने ही कहा था—"अरे हां, मैं जानता हूं इन्हें। ये सव लोग मृत्यु की वात सुनकर हँसते हैं।" धन्य है वह व्यक्ति जो मातृभूमि के लिए प्राण न्यौछावर करते समय आनन्द का, मस्ती का अनुभव करता है। धन्य है वह भारतमाता जिसने ऐसा अमर तत्त्वज्ञान दिया जिसे पाकर उसके वीर पुत्र मृत्यु का उपहास कर सकते हैं। धन्य है वह हिन्दू जाति जिसमें ऐसे लाखों महापुरुष समय-समय पर जन्म लेते रहते हैं जिन्हें देखकर विदेशी दांतों तले अंगुली दवाकर कहते हैं—"ये मरने पर हँसते हैं!"

श्री अरविन्द जेल से छूटे तो देश-भर में प्रसन्नता की लहर छा गई। भगिनी निवेदिता ने अपना विद्यालय उस दिन ऐसा सजाया था मानो कोई वड़ा त्योहार हो। निवेदिता के जीवनीकार लिज़ेल रेमंड के शब्दों में—"निवेदिता ने श्री अरविन्द को पूर्णतया रूपान्तरित पाया।·· निवेदिता को लगा कि वह अतीत के आध्यात्मिक गुरु (स्वामी विवेकानन्द) के उत्तराधिकारी हैं जो यौगिक एकान्तवास में अपनी प्रेरणा के स्रोत से सवको तृप्त होने का आवाहन कर रहे हैं। अलीपुर के वन्दी जीवन के पश्चात् से अरविन्द योद्धा के स्थान पर योगी हो गए थे।"

हां, वे योगी हो गए थे पर उन्होंने शस्त्र रख नहीं दिए थे। इतना अवश्य हो गया था कि उनके शस्त्र अव अधिक पैने हो गए थे, मर्मस्थल को अधिक वेधने वाले और उनकी दृष्टि भी कुछ अधिक तीक्ष्ण हो गई थी—"वह आकाश में देख रहे थे—सुदूर दृष्टि थी—अपने आसपास को भूले हुए।"

अव वे अपने मौसा के घर पर रहने लगे—'संजीवनी' के संपादक कृष्णकुमार मित्र के घर, जो स्वयं आगरा में वन्दी थे। उनकी मौसेरी वहिन श्रीमती वसन्ती चक्रवर्ती ने वाद में वताया था—"मैंने श्री अरविन्द को कभी क्रुद्ध होते नहीं देखा।" श्री अरविन्द की चप्पलें पहनकर वे चली जातीं, वे आवश्यकता पड़ने पर प्रतीक्षा करते रहते और उनके आने पर मुस्कराहट के साथ मांग लेते। और मौसी जव गंगा स्नान करने जातीं तो लिखने-पढ़ने में व्यस्त श्री अरविन्द से कहीं—"आरो, ज़रा चलना मेरे साथ, मैं गंगा स्नान को जा रही हूं।" और श्री अरविन्द लिखना-पढ़ना छोड़कर साथ चल पड़ते।

श्री अरविन्द ने जेल से छूटने के पश्चात् 'दी वंगाली' नामक पत्र में १४ मई, १९०९ के अपने पत्र के माध्यम से सम्पूर्ण देश को सामूहिक रूप में धन्यवाद दिया

था क्योंकि व्यक्ति-व्यक्ति को पत्र लिख पाना असंभव था। उन्होंने अपनी मुक्ति का कारण भगवती शक्ति की कृपा तथा उनकी मुक्ति के लिए प्रार्थना करने वाले लक्षावधि देशवासियों की प्रार्थनाओं को बताया। और इस संक्षिप्त पत्र के अन्त में मार्मिक पंक्तियां थीं—"यदि स्वदेश-प्रेम ने मुझे संकट में डाला था तो स्वदेश-वासियों के प्रेम ने मुझे उसमें से सुरक्षित उबार भी लिया है।"

ऐसे कर्मयोगी श्री अरविन्द अब धर्म के साक्षात्कारी महापुरुष थे। वे फांसी के तख्ते से लौटे ईसा थे। उनका व्यक्तित्व तपा हुआ व्यक्तित्व था, उनकी वाणी में दिव्य सन्देश था। उन्होंने अपनी व्यक्तिगत आध्यात्मिक साधना की पहली सार्वजनिक घोषणा इसी अवसर पर की थी। उत्तरपाड़ा-भाषण, 'उत्तरयोगी श्री अरविन्द' का महान्, भव्य और दिव्य संकेतक था।

१८. आध्यात्मिक राष्ट्रीयता का ईश्वरीय सन्देश

"मेरे गुरु शास्त्र-निर्माता हैं।"

—श्री अमरेन्द्रनाथ चटर्जी

"सनातन धर्म ही हमारे लिए राष्ट्रीयता है।"

—श्री अरविन्द

३० मई, १९०९ को उत्तरपाड़ा की 'धर्मरक्षिणी सभा' के मंच से श्री अरविन्द ने जो अद्भुत भाषण दिया, उसने मानो आध्यात्मिक राष्ट्रीयता का घोषणापत्र ही प्रस्तुत कर दिया। 'संजीवनी' कार्यालय से श्री अरविन्द को रेलगाड़ी से उत्तरपाड़ा ले कर आए श्री अमरेन्द्रनाथ चटर्जी अपने इस क्रांति-गुरु के विषय में प्रायः गर्व से कहा करते थे—"मेरे गुरु शास्त्र-निर्माता हैं।" आज तो यह सत्य सिद्ध हुआ। धर्म की, सनातन धर्म की, हिन्दू राष्ट्र की, भारत के उद्देश्य की, व्याख्या करने वाला यह भाषण ईश्वरीय वाणी थी, सचमुच एक शास्त्र का उद्घाटन। उत्तरपाड़ा-भाषण श्री अरविन्द के जीवन-यात्रा की एक महत्त्वपूर्ण क्रॉस शिला है। आइए, दस सहस्र की शान्त जनसभा में दिए गए इस भाषण का पूरा आनन्द लें—

उत्तरपाड़ा-भाषण

"जब मुझे आपकी सभा के इस वार्षिक अधिवेशन में बोलने के लिए कहा गया तो मैंने यही सोचा था कि आज के लिए जो विषय चुना गया है उसी पर, अर्थात् 'हिन्दू धर्म' पर कुछ कहूंगा। मैं नहीं जानता कि उस इच्छा को मैं पूरा कर सकूंगा या नहीं; क्योंकि जैसे ही मैं यहां आकर बैठा, मेरे मन में एक सन्देश आया और वह सन्देश आपको और सारे भारत राष्ट्र को सुनाना है। यह वाणी मुझे पहले-पहल जेल में सुनाई दी थी और उसे अपने देशवासियों को सुनाने के लिए मैं जेल से बाहर आया हूं।

"वर्ष-भर से कुछ अधिक हुआ जब मैं पिछली बार यहां आया था। जब मैं आया था तो अकेला नहीं था। राष्ट्रवाद के प्रबलतम अग्रदूतों में से एक मेरे पास विराजमान थे। वे उस समय भगवत्-निर्दिष्ट एकान्तवास से बाहर आए थे। भगवान् की वाणी सुनने के लिए ही वे अपनी कालकोठरी की उस नीरवता और एकान्तवास में गए थे। आप तब सैंकड़ों लोग उन्हीं का स्वागत करने आए थे। अब वे हमसे सहस्रों मीलों की दूरी पर पृथक् किए हुए, बहुत दूर हैं। अन्य लोग जिनको अपने साथ कार्य करते देखना मेरा स्वभाव बन गया था आज अनुपस्थित हैं। जो तूफान देश पर आया था उसने उन्हें इधर-उधर बिखेर दिया है।। इस बार मैंने एक वर्ष एकान्तवास में बिताया है और अब बाहर आकर देख रहा हूं कि सब कुछ परिवर्तित हो गया है। वह (लोकमान्य तिलक) जो मेरे पास सदैव बैठा करते थे और मेरे कार्य में सहयोगी थे, बर्मा में बन्दी हैं और दूसरे (लाला लाजपतराय) उत्तर में नज़रबन्दी में सड़ रहे हैं। जब मैं जेल से छूटा तो मैंने उनके लिए दृष्टि दौड़ाई जिनसे परामर्श और प्रेरणा पाने का मैं अभ्यस्त था। किन्तु वे नहीं मिले। इससे भी कुछ अधिक हुआ है।

" जब मैं जेल गया था तो सारा देश 'वन्देमातरम्' की ध्वनि से गूंज रहा था, वह एक राष्ट्र बनने की आशा से जीवित था। यह उन करोड़ों मनुष्यों की आशा थी जो गिरी हुई दशा से अभी-अभी ऊपर उठे थे। जब मैं जेल से बाहर आया तो मैंने इस ध्वनि को सुनने की कोशिश की, किन्तु इसके स्थान पर निस्तब्धता थी। देश में सन्नाटा था और लोग हक्के-बक्के से दिखाई दिए; क्योंकि जहां पहले हमारे सामने भविष्य की कल्पना से भरा ईश्वर का उज्ज्वल स्वर्ग था वहां हमारे सिर पर धूसर आकाश दिखाई दिया जिससे मानवीय वज्र और बिजली की वर्षा हो रही थी। किसी को यह नहीं दिखाई देता था कि किस ओर चलना चाहिए। चारों ओर से यही प्रश्न उठ रहा था, 'अब क्या करें ? हम क्या कर सकते हैं ?'

" मुझे भी नहीं पता था कि किधर जाना चाहिए। मुझे भी नहीं पता था कि आगे क्या करना चाहिए। परन्तु एक बात मुझे पता थी कि भगवान् की जिस सर्वसमर्थ शक्ति ने वह ध्वनि, वह आशा उठाई थी, उसी शक्ति ने उसे शान्त भी किया है। वह भगवान् जो जयकारों और गतिविधियों में था, वही इस विराम और नीरवता में भी है। उसने ऐसा इसलिए किया है कि यह राष्ट्र एक क्षण पीछे हटेगा और आत्मदर्शन करे तथा भगवत्-इच्छा को जान ले। मैं इस नीरवता से निराश नहीं हुआ हूं क्योंकि कारागार में नीरवता का मैं अभ्यस्त हो चुका हूं और चूंकि मैं जानता था कि अपनी वर्ष-भर की लम्बी नज़रबन्दी में मैंने विराम और नीरवता के मध्य ही यह पाठ पढ़ा था। जब विपिनचन्द्र पाल जेल से लौटे थे, वह एक संदेश लेकर आए थे और वह एक प्रेरित सन्देश था। मुझे उनका वह भाषण याद है जो उन्होंने यहां दिया था। वह भाषण सामग्री तथा उद्देश्य की दृष्टि से

उतना राजनीतिक नहीं था, जितना धार्मिक। उन्होंने जेल में अपने ईश्वर-साक्षात्कार, सब में विद्यमान ईश्वर तथा राष्ट्र में विद्यमान ईश्वर के विषय में भाषण दिया था और अपने बाद के भाषणों में उन्होंने आन्दोलन की असाधारण शक्ति तथा इसके असाधारण प्रयोजन पर प्रकाश डाला था।

"आज मैं आपसे फिर मिल रहा हूं, मैं भी जेल से बाहर आया हूं और इस बार भी आप ही, इस उत्तरपाड़ा के निवासी ही, मेरा सबसे पहले स्वागत कर रहे हैं। किसी राजनीतिक सभा में नहीं, बल्कि उस समिति की सभा में जिसका उद्देश्य है धर्म की रक्षा। जो सन्देश विपिनचन्द्र पाल ने बक्सर जेल में पाया था वही भगवान् ने मुझे अलीपुर में दिया। वह ज्ञान भगवान् ने मुझे बारह महीने के कारावास में दिन-प्रतिदिन दिया और अब जब मैं जेल से बाहर आ गया हूं तो उनका आदेश है कि मैं आपसे उसकी बात करूं।

"मैं जानता था कि मैं छूटकर आऊंगा। एक वर्ष की नज़रबन्दी वर्ष-भर के एकान्तवास तथा प्रशिक्षण के लिए थी। ईश्वरीय प्रयोजन से अधिक समय के लिए मुझे बन्द रखने की सामर्थ्य किसमें हो सकती थी? भगवान् ने कहने के लिए एक सन्देश दिया था और करने के लिए एक काम और, मैं यह जानता था कि जब तक यह सन्देश सुना नहीं दिया जाता तब तक कोई मानव-शक्ति मुझे चुप नहीं कर सकती। जब तक वह काम नहीं हो जाता तब तक कोई मानव-शक्ति भगवान् के यन्त्र को रोक नहीं सकती, फिर वह यन्त्र चाहे कितना ही दुर्बल, कितना ही कमज़ोर क्यों न हो। अब जब मैं बाहर आ गया हूं, तो इन कुछ मिनटों में ही आपको देने के लिए एक सन्देश का भगवान् ने मुझे परामर्श दिया है जिसे मैं बोलने की इच्छा लेकर नहीं आया था। जो मेरे मन में बात थी वह भगवान् ने निकाल फेंकी और जो मैं बोल रहा हूं, प्रेरणा और बाध्यता के कारण।

"जब मैं बंदी बनाया गया था और लाल बाज़ार की हवालात में ले जाया गया था तो मेरा विश्वास क्षणभर को डिग गया था क्योंकि मैं भगवान् के अभिप्राय को जान नहीं सका था। अतः मैं क्षण-भर को लड़खड़ाया और हृदय में भगवान् से पूछा—'यह क्या हुआ? मेरा विश्वास था कि अपने देशवासियों के लिए कार्यान्वित करने को मेरे पास एक उद्देश्य था और जब तक वह कार्य सम्पन्न न हो, मुझे तुम्हारा संरक्षण मिलना चाहिए। तब मैं यहां क्यों हूं और क्यों ऐसे अभियोग के साथ?' एक दिन बीता और फिर दूसरा व तीसरा भी, और तब अन्दर से एक वाणी सुनाई दी—'प्रतीक्षा करो और देखो।' तब मैं शांत हो गया और प्रतीक्षा करने लगा।

"मैं लाल बाज़ार थाने से अलीपुर जेल में ले जाया गया और वहां मुझे एक महीने के लिए मनुष्यों से दूर एक निर्जन कालकोठरी में रखा गया। वहां मैं अपने अन्दर विद्यमान भगवान् की वाणी सुनने के लिए, यह जानने के लिए कि वे मुझसे

"कया कहना चाहते हैं और यह सीखने के लिए कि मुझे क्या करना होगा, रात-दिन प्रतीक्षा करने लगा। इस एकान्तवास में मुझे सबसे पहली अनुभूति हुई, पहलीशिक्षा मिली।

"मुझे तब स्मरण आया कि बन्दी होने से एक मास या कुछ अधिक पहले, मुझे यह आदेश मिला था कि सब गतिविधि रोक दूं, एकान्तवास करूं और अपने अन्दर देखूं जिससे भगवान् से अधिक समीप सम्बन्ध स्थापित हो सके। मैं दुर्बल था और इस आदेश को स्वीकार नहीं कर सका। मुझे अपना कार्य अत्यन्त प्रिय था और अपने हृदय के अभिमान के वश मैंने यह सोचा कि जब तक मैं नहीं रहूंगा, इस कार्य की हानि होगी, तथा यह असफल और बन्द भी हो सकता है। अतः मैंने इसे नहीं छोड़ा।

"ऐसा बोध हुआ कि वे मुझसे फिर बोले और उन्होंने कहा कि, 'तुम्हारे करने के लिए मैंने दूसरा काम चुना है और उसीके लिए मैं तुम्हें यहां लाया हूं ताकि मैं तुम्हें यह बात सिखा दूं जिसे तुम स्वयं नहीं सीख सके और तुम्हें अपने काम के लिए तैयार कर लूं।' इसके बाद भगवान् ने मेरे हाथों में गीता रख दी। मेरे अन्दर उनकी शक्ति प्रवेश कर गई और गीता की साधना करने में समर्थ हुआ। मुझे केवल बौद्धिक रूप से ही यह नहीं समझना था अपितु अनुभूति भी करनी थी कि श्रीकृष्ण अर्जुन से क्या अपेक्षा रखते हैं और उनसे क्या अपेक्षा रखते हैं जो श्रीकृष्ण का कार्य करने के आकांक्षी हैं अर्थात् राग-द्वेष से मुक्त होना, बिना फल की इच्छा के भगवान् का कार्य करना, अपनी इच्छा को त्याग देना और उनके हाथों में निष्क्रिय और निष्ठावान यंत्र बन जाना, उच्च-नीच, मित्र-शत्रु, सफलता-असफलता में समदर्शी हो जाना और फिर भी उनके कार्य को शिथिलतापूर्वक न करना। मैंने हिन्दू धर्म के अर्थ का साक्षात्कार किया। बहुधा हम हिन्दू धर्म, सनातन धर्म की बातें करते हैं, किन्तु वास्तव में हममें से कम ही लोग यह जानते हैं कि यह धर्म क्या है। दूसरे धर्म मुख्य रूप से विश्वास और व्रत-दीक्षा वाले धर्म हैं किन्तु सनातन धर्म तो स्वयं जीवन ही है। यह उतनी विश्वास करने की चीज नहीं है, जितनी जीने की। यही वह धर्म है जिसका लालन-पालन मानव-जाति के कल्याण के लिए प्राचीन काल से इस प्रायद्वीप के एकांतवास में होता आ रहा है। यही धर्म देने के लिए भारत उठ रहा है। भारतवर्ष, दूसरे देशों की तरह, अपने लिए ही या सशक्त होकर दुर्बलों को कुचलने के लिए नहीं उठा करता है। वह उठ रहा है सारे संसार पर उस सनातन ज्योति को विकीर्ण करने के लिए जो उसे सौंपी गई है। भारत का जीवन सदा ही मानव जाति के लिए रहा है, अपने लिए नहीं। और उसे मानव जाति के लिए महान् होना है, अपने लिए नहीं।

"अतः भगवान् ने मुझे यही दूसरी वस्तु दिखाई—उन्होंने मुझे हिन्दू धर्म के मूल सत्य का साक्षात्कार करा दिया। उन्होंने मुझे बन्दी बनाने वालों के हृदय, मेरी

ओर मोड़ दिए और उन्होंने जेल-प्रमुख अंग्रेज़ से कहा—'वह कालकोठरी में कष्ट उठा रहा है। कम से कम उसे अपनी कोठरी से वाहर आधा-आधा घंटा प्रातः-सायं टहल लेने दो।' अतः वैसा ही प्रवन्ध हो गया। और जव मैं टहल रहा था तो भगवान् की शक्ति ने फिर मेरे अन्दर प्रवेश किया। मैंने उस जेल की ओर दृष्टि डाली जो मुझे और लोगों से अलग किये हुए था। मैंने देखा कि अव मैं उसकी ऊंची दीवारों के अन्दर वंद नहीं हूं; अव मुझे घेरे हुए थे वासुदेव। मैं अपनी कोठरी के सामने के वृक्ष की शाखाओं के नीचे टहल रहा था किन्तु यह तो वृक्ष नहीं था, मुझे ज्ञात हुआ कि यह स्वयं वासुदेव हैं, यह श्रीकृष्ण हैं। जो मुझे वहां खड़े दिखाई दे रहे हैं और मुझ पर अपनी छाया कर रहे हैं। मैंने अपनी कोठरी के सींखचों पर दृष्टि डाली, पहरेदार को देखा और फिर वासुदेव दिखाई दिए। वह नारायण थे जो पहरा दे रहे थे और संतरी के रूप में मेरे द्वार पर खड़े थे। अथवा जव मैं रूखे कम्वलों पर लेट गया जो मुझे पलंग के स्थान पर मिले थे तो मैंने अपने चारों ओर अपने मित्र और प्रेमी श्रीकृष्ण की भुजाओं को अनुभव किया। मुझे उन्होंने जो गहरी दृष्टि दी थी उसका यह प्रथम उपयोग था। मैंने जेल के वन्दियों को देखा, चोरों को, हत्यारों को, ठगों को और जव मैंने उन्हें देखा तो मैंने वासुदेव को देखा। वह नारायण थे जो इन अंधकारपूर्ण आत्माओं और कुत्सित शरीरों में विद्यमान थे। इन चोरों और डाकुओं में अनेक ऐसे थे जिन्होंने अपनी सहानुभूति, कृपा अर्थात् ऐसी विपरीत परिस्थितियों पर विजय प्राप्त मानवता से मुझे लज्जित कर दिया। उनमें से एक व्यक्ति को मैंने विशेषतः देखा जो मुझे संत जैसा लगा। वह मेरे राष्ट्र का एक कृषक था जो लिखना-पढ़ना नहीं जानता था। वह एक अभियुक्त डाकू था जिसे दस वर्ष का कठोर कारावास मिला था और उनमें से एक था जिन्हें हम वड़प्पन के अहंकार में 'छोटा आदमी' कहकर घृणा करते हैं।

" फिर एक वार भगवान् मुझसे वोले, उन्होंने कहा—'अपना कुछ थोड़ा-सा काम करने के लिए मैंने तुम्हें जिनके वीच भेजा है उन लोगों को देखो। जिस जाति को मैं ऊपर उठा रहा हूं उसका स्वरूप यही है और इसी कारण मैं उसे ऊपर उठा रहा हूं।'

डरते हो? मैं सब मनुष्यों में स्थित हूं, मैं उनके कार्यों और वचनों का शासक हूं। मैं अब भी तुम्हारी रक्षा कर रहा हूं और तुम डरो मत। यह मुकदमा जो तुम्हारे ऊपर चलाया गया है, मेरे ऊपर छोड़ दो। मैं तुम्हें यहां मुकदमे के लिए नहीं लाया अपितु किसी अन्य कार्य के लिए। यह मुकदमा मेरे कार्य के लिए एक माध्यम मात्र है, अधिक कुछ नहीं।' बाद में जब सेशन्स की अदालत में मुकदमा प्रारम्भ हुआ, तो मैं अपने वकील के लिए अनेक निर्देश लिखने लगा - इस विषय में कि मेरे विरुद्ध गवाहियों में क्या-क्या मिथ्या है और किन-किन बातों पर गवाहों से प्रश्न करने चाहिए। तब कुछ ऐसा घटित हुआ जिसकी मुझे संभावना भी न थी। मेरे बचाव के लिए जो प्रबन्ध किए गए थे, अचानक बदल दिए गए और दूसरा वकील मेरे बचाव के लिए खड़ा हो गया। वह अचानक आए, वह मेरे एक मित्र थे किन्तु मुझे पता नहीं था कि वे आ रहे हैं। आप सभी लोग उस व्यक्ति का नाम जानते हैं जिसने मुझे बचाने के लिए सभी अन्य विचारों को दूर कर दिया था, अपनी वकालत छोड़ दी थी और दिन-प्रतिदिन महीनों तक आधी-आधी रात बैठकर अपना स्वास्थ्य नष्ट कर लिया था—श्रीयुत चित्तरंजनदास। जब मैंने उन्हें देखा, मैं संतुष्ट हो गया किन्तु फिर भी मैंने निर्देश लिखना आवश्यक समझा। तभी वह सब रोक दिया गया और अन्दर से मुझे संदेश मिला—'यह है वह व्यक्ति जो तुम्हारे पैरों में डाले गये फन्दों से तुम्हारी रक्षा करेगा। हटा दो इन कागज़ों को। उसे निर्देश तुम नहीं दोगे। उसे निर्देश मैं दूंगा।' उस समय से मैंने मुकदमे के सम्बन्ध में अपने वकील से स्वयं एक शब्द भी नहीं कहा, एक निर्देश भी नहीं दिया और यदि कभी मुझसे प्रश्न किया गया, तो मैंने सदैव यह देखा कि मेरा उत्तर मुकदमे में सहायक नहीं होता। मैंने अपने वकील पर छोड़ दिया और उसने इसे पूरी तरह से अपने हाथों में ले लिया। और परिणाम आप जानते ही हैं।

"मैं सदा यह जानता था कि मेरे सम्बन्ध में भगवान् की क्या इच्छा है, क्योंकि मुझे बार-बार यह वाणी सुनाई पड़ती थी, मेरे अन्दर से सदैव यह आवाज़ आया करती थी—'मैं रास्ता दिखा रहा हूं, इसलिए डरो मत। मैं तुम्हें जिस काम के लिए जेल में लाया हूं अपने उस काम की ओर मुड़ो और जब तुम जेल से बाहर निकलो तो यह याद रखना कि कभी डरना मत, कभी हिचकिचाना मत। याद रखो, यह सब मैं कर रहा हूं, तुम या और कोई नहीं। चाहे जो विपत्तियां आए, चाहे जो संकट आएं, चाहे जो कठिनाइयां, चाहे जो असंभावनाएं आएं, कुछ भी असंभव नहीं है, कुछ भी कठिन नहीं है।

"मैं इस राष्ट्र और इसके उत्थान में हूं, मैं वासुदेव हूं, मैं नारायण हूं। जो कुछ मेरी इच्छा होगी, वही होगा, दूसरों की इच्छा नहीं। मैं जिस चीज़ को लाना चाहता हूं उसे कोई मानव शक्ति नहीं रोक सकती।

"इसी मध्य भगवान् मुझे एकान्तवास से बाहर ले आए थे और उनके मध्य रख

दिया था जो मेरे साथ ही अभियुक्त बने थे। आज आपने मेरे आत्मत्याग और देश-प्रेम के बारे में बहुत कुछ कहा है। मैं जब से जेल से निकला हूं तब से इसी प्रकार की बातें सुनता आ रहा हूं, किन्तु ऐसी बातें सुनने में मुझे बड़ी परेशानी होती है, मेरे अन्दर एक तरह की वेदना होती है क्योंकि मैं अपनी दुर्बलता जानता हूं। मैं अपनी त्रुटियों तथा भ्रष्टताओं का शिकार हूं। मैं उनसे पहले भी अनजान नहीं था और जब वे सभी एकान्तवास में मेरे विरुद्ध खड़ी हो गयीं, तो मैंने उनका पूरा-पूरा अनुभव किया। तब मैंने यह जाना कि मैं मनुष्य के रूप में दुर्बलता का पुंज हूं, एक त्रुटिपूर्ण और अपूर्ण यंत्र हूं और तभी सशक्त लगता हूं जब उच्चतर शक्ति मुझमें प्रवेश करती है। तब मैं उन युवकों के बीच में आया और मैंने देखा कि उनमें से बहुतों में एक प्रचण्ड साहस और अपने को मिटा देने की शक्ति है और उनकी तुलना में मैं कुछ भी नहीं हूं। इनमें से एक-दो ऐसे थे जो केवल बल और चरित्र में ही मुझसे बढ़कर नहीं थे—ऐसे तो बहुत थे—बल्कि मैं जिस बुद्धि की योग्यता का अभिमान रखता था, उसमें भी बढ़े हुए थे। भगवान् ने मुझसे फिर कहा, 'यही है वह युवक पीढ़ी, वह नवीन और बलवान राष्ट्र जो मेरे आदेश से ऊपर उठ रहा है। ये तुमसे अधिक महान् हैं। तुम्हें भय किस बात का है? यदि तुम इस काम से हट जाओ या सो जाओ तो भी काम पूरा होगा। कल तुम इस काम से हटा दिए जाओ तो ये युवक तुम्हारे काम को उठा लेंगे और तुमसे कहीं अधिक प्रभावशाली ढंग से करेंगे। तुम्हें इस देश को वाणी सुनाने के लिए मुझ से कुछ बल मिला है, वह वाणी इस जाति को ऊपर उठाने में सहायता देगी।' यह वह दूसरी बात थी जो भगवान् ने मुझसे कही।

"इसके बाद अचानक एक बात हुई और क्षण भर में मुझे एक कालकोठरी में एकान्तवास में पहुंचा दिया गया। इस एकान्तवास में मुझे क्या हुआ, यह कहने की प्रेरणा नहीं हो रही है, बस इतना ही कह सकता हूं कि वहां दिन-प्रतिदिन भगवान् ने अपने चमत्कार दिखाए और मुझे हिन्दू धर्म के वास्तविक सत्य का साक्षात्कार कराया। पहले मेरे अन्दर अनेक प्रकार के सन्देह थे। मेरा लालन-पालन इंग्लैण्ड में विदेशी विचारों और सर्वथा विदेशी वातावरण में हुआ था। एक समय मैं हिन्दू धर्म की बहुत-सी बातों को मात्र कल्पना समझता था। यह समझता था कि इसमें बहुत कुछ केवल स्वप्न, भ्रम या माया है। परन्तु अब दिन-प्रतिदिन मैंने हिन्दू धर्म के सत्य को, अपने मन में, अपने प्राण में और अपने शरीर में अनुभव किया। वे मेरे लिए जीवित अनुभव हो गए और मेरे सामने ऐसी सब बातें प्रकट होने लगीं जिनके बारे में भौतिक विज्ञान कोई व्याख्या नहीं दे सकता। जब मैं पहले-पहल भगवान् के पास गया तो पूरी तरह भक्तिभाव के साथ नहीं गया था, पूरी तरह ज्ञानी के भाव से भी नहीं गया था। बहुत दिन हुए, स्वदेशी आन्दोलन प्रारंभ होने के कुछ वर्ष पहले और बड़ौदा में उनकी ओर बढ़ा था और तभी मैं सार्वजनिक क्षेत्र में आ

[illegible] था ।

" उन दिनों जब मैं भगवान् की ओर बढ़ा तो मुझे उन पर जीवन्त श्रद्धा न थी। उस समय मेरे अन्दर अज्ञेयवादी था, नास्तिक था, सन्देहवादी था और मुझे पूरी तरह विश्वास न था कि भगवान् हैं भी। मैं उनकी उपस्थिति का अनुभव नहीं करता था। फिर भी कोई चीज़ थी जिसने मुझे वेद के सत्य की ओर, गीता के सत्य की ओर, हिन्दू धर्म के सत्य की ओर आकर्षित किया। मुझे लगा कि इस योग में कहीं पर कोई महाशक्तिशाली सत्य अवश्य है, वेदान्त पर आधारित इस धर्म में कोई परम बलशाली सत्य अवश्य है। इसलिए जब मैं योग की ओर मुड़ा और योगाभ्यास करके यह जानने का संकल्प किया कि मेरी बात सच्ची है या नहीं तो मैंने उसे इस भाव और इस प्रार्थना से शुरू किया। मैंने कहा, 'हे भगवान्, यदि तुम हो तो तुम मेरे हृदय की बात जानते हो। तुम जानते हो कि मैं मुक्ति नहीं मांगता, मैं ऐसी कोई चीज़ नही मांगता जो दूसरे मांगा करते हैं। मैं केवल इस जाति को ऊपर उठाने की शक्ति मांगता हूं, मैं केवल यह मांगता हूं कि मुझे इस देश के लोगों के लिए, जिनसे मैं प्यार करता हूं, जीने और कर्म करने की आज्ञा मिले और यह प्रार्थना करता हूं कि मैं अपना जीवन उनके लिए लगा सकूं।' मैंने योगसिद्धि पाने के लिए बहुत दिनों तक प्रयास किया और अन्त में किसी हद तक मुझे मिली भी, पर जिस बात के लिए मेरी बहुत अधिक इच्छा थी उसके सम्बन्ध में मुझे सन्तोष नहीं हुआ। तब उस जेल के, उस कालकोठरी के, एकान्तवास में मैंने उसके लिए फिर से प्रार्थना की। मैंने कहा, 'मुझे अपना आदेश दो, मैं नहीं जानता कि कौन-सा काम करूं और कैसे करूं। मुझे एक सन्देश दो।' इस योगयुक्त अवस्था में मुझे दो सन्देश मिले। पहला यह था, 'मैंने तुम्हें एक काम सौंपा है और वह है इस जाति के उत्थान में सहायता देना। शीघ्र ही वह समय आएगा जब तुम्हें जेल के बाहर जाना होगा; क्योंकि मैं नहीं चाहता कि इस बार तुम्हें सज़ा हो या तुम अपना समय औरों की तरह अपने देश के लिए कष्ट सहते हुए बिताओ। मैंने तुम्हें काम के लिए बुलाया है और यही वह आदेश है जो तुमने मांगा था। मैं तुम्हें आदेश देता हूं कि जाओ और काम करो।' दूसरा सन्देश आया, वह इस प्रकार था, 'इस एक वर्ष के एकान्तवास में तुम्हें कुछ दिखाया गया है, वह चीज़ दिखाई गई है जिसके बारे में तुम्हें सन्देह था, वह है हिन्दू धर्म का सत्य, इसी धर्म को मैं संसार के सामने उठा रहा हूं, यही वह धर्म है जिसे मैंने ऋषि-मुनियों और अवतारों के द्वारा विकसित किया और पूर्ण बनाया है और अब यह धर्म अन्य जातियों में मेरे काम करने के लिए बढ़ रहा है। मैं अपनी वाणी का प्रसार करने के लिए इस जाति को उठा रहा हूं। यही वह सनातन धर्म है जिसे तुम पहले सचमुच नहीं जानते थे, किन्तु जिसे अब मैंने तुम्हारे सामने प्रकट कर दिया है। तुम्हारे अन्दर जो नास्तिकता थी, जो सन्देह था उनका उत्तर दे दिया गया है, क्योंकि मैंने आन्तर और बाह्य, स्थूल और सूक्ष्म,

प्रमाण दे दिये हैं और उनसे तुम्हें सन्तोष हो गया है। जब तुम बाहर निकलो तो सदा अपनी जाति को यही वाणी सुनाना कि वे सनातन धर्म के लिए उठ रहे हैं, वे अपने लिए नहीं बल्कि संसार के लिए उठ रहे हैं। मैं उन्हें संसार की सेवा के लिए स्वतन्त्रता दे रहा हूं। अतएव जब यह कहा जाता है कि भारतवर्ष ऊपर उठेगा तो उसका अर्थ होता है सनातन धर्म ऊपर उठेगा। जब कहा जाता है कि भारतवर्ष महान् होगा तो उसका अर्थ होता है सनातन धर्म महान् होगा। जब कहा जाता है कि भारतवर्ष बढ़ेगा और फैलेगा तो इसका अर्थ होता है सनातन धर्म बढ़ेगा और संसार पर छा जायेगा। धर्म के लिए और धर्म के द्वारा ही भारत का अस्तित्व है। धर्म की महिमा बढ़ाने का अर्थ है देश की महिमा बढ़ाना। मैंने तुम्हें दिखा दिया है कि मैं सब जगह हूं, सभी मनुष्यों और सभी वस्तुओं में हूं, मैं इस आन्दोलन में हूं और केवल उन्हीं के अन्दर कार्य नहीं कर रहा जो देश के लिए परिश्रम कर रहे हैं, अपितु उनके अन्दर भी जो उनका विरोध करते और मार्ग में रोड़े अटकाते हैं। मैं प्रत्येक व्यक्ति के अन्दर काम कर रहा हूं और मनुष्य चाहे जो-कुछ सोचे या करे, पर वे मेरे हेतु की सहायता करने के अतिरिक्त और कुछ नहीं कर सकते। वे भी मेरा ही काम कर रहे हैं; वे मेरे शत्रु नहीं, बल्कि मेरे यन्त्र हैं। तुम यह जाने बिना भी कि तुम किस ओर जा रहे हो, अपनी सारी क्रियाओं के द्वारा आगे बढ़ रहे हो। तुम करना चाहते हो कुछ और, पर कर बैठते हो कुछ और। तुम एक परिणाम को लक्ष्य बनाते हो और तुम्हारे प्रयास ऐसे हो जाते हैं जो उससे भिन्न या उल्टे परिणाम लाते हैं। शक्ति का आविर्भाव हुआ है और उसने लोगों में प्रवेश किया है। मैं बहुत समय से इस उत्थान को तैयार कर रहा हूं और अब वह समय आ गया है। अब मैं ही इसे पूर्णता की ओर ले जाऊंगा।'

"यही वह वाणी है जो मुझे आपको सुनानी है। आपकी सभा का नाम है 'धर्म-रक्षिणी सभा'। अस्तु, धर्म का संरक्षण, दुनिया के सामने हिन्दू धर्म का संरक्षण और उत्थान—यही कार्य हमारे सामने है। परन्तु हिन्दू धर्म क्या है? वह धर्म क्या है जिसे हम सनातन धर्म कहते हैं? वह 'हिन्दू धर्म' कहा जाता है क्योंकि हिन्दू राष्ट्र ने उसको धारण किया है, क्योंकि समुद्र और हिमालय से घिरे हुए इस प्राय-द्वीप के एकान्तवास में यह फला-फूला है, क्योंकि इस पवित्र और प्राचीन भूमि पर इसकी युगों तक रक्षा करने का भार आर्य जाति को सौंपा गया था। परन्तु यह धर्म किसी एक देश की सीमा से घिरा नहीं है, यह संसार के किसी सीमित भाग के साथ विशेष रूप से और सदा के लिए बंधा नहीं है। जिसे हम हिन्दू धर्म कहते हैं, पर वास्तव में सनातन धर्म है, क्योंकि यही वह विश्वव्यापी धर्म है जो दूसरे सभी धर्मों का आलिंगन करता है। यदि कोई धर्म विश्वव्यापी न हो तो वह सनातन भी नहीं हो सकता। कोई संकुचित धर्म, साम्प्रदायिक धर्म, अनुदार धर्म कुछ सीमित काल और किसी सीमित हेतु के लिए ही जीवित रह सकता है। यही एक ऐसा धर्म है

अपने अन्दर वैज्ञानिक आविष्कारों और दर्शन-शास्त्र के चिन्तनों का पूव. और उन्हें अपने अंदर मिलाकर जड़वाद पर विजय प्राप्त कर सकता है। य‹ धर्म है जो मानव जाति के मन में यह बात बैठा देता है कि भगवान् हमारे निक‹ और उन सभी साधनों को अपने अन्दर ले लेता है जिनके द्वारा मनुष्य भगवान् के पास पहुंच सकते हैं। यही एक ऐसा धर्म है जो प्रत्येक क्षण, सभी धर्मों के माने हुए इस सत्य पर बल देता है कि भगवान् सभी मनुष्यों और सभी वस्तुओं में हैं तथा हम भगवान् में चलते-फिरते हैं और उन्हीं में हमारी सत्ता है। यही एक धर्म ऐसा है जो इस सत्य को केवल समझने और उस पर विश्वास करने में भी हमारा सहायक नहीं होता बल्कि अपनी सत्ता के अंग-अंग में इसका अनुभव करने में ही हमारी मदद करता है। यही एक धर्म है जो संसार को दिखा देता है कि संसार क्या है—वासुदेव की लीला। यही एक धर्म ऐसा है जो हमें यह बताता है कि इस लीला में हम अपनी भूमिका अच्छी-से-अच्छी तरह कैसे निभा सकते हैं, जो हमें यह दिखाता है कि इसके सूक्ष्म-से सूक्ष्म नियम क्या हैं, इसके महान्-से-महान् विधान कौन से हैं। यही एक ऐसा धर्म है जो जीवन की छोटी से छोटी बात को भी धर्म से अलग नहीं करता, जो यह जानता है कि अमरता क्या है और जिसने मृत्यु की यथार्थता को हमारे अन्दर से एकदम निकाल दिया है।

"यही वह वाणी है जो आपको सुनाने के लिए आज मेरे कण्ठ में रख दी थी। मैं जो कुछ कहना चाहता था, वह तो मुझसे अलग कर दिया गया और मुझे कहने के लिए दिया गया है उससे अधिक मेरे पास कहने के लिए कुछ नहीं है जो वाणी मेरे अन्दर रख दी गई थी केवल वही आपको सुना सकता हूं। अब वा समाप्त हो चुकी है। पहले भी एक बार जब मेरे अन्दर यही शक्ति काम कर रही थी तो मैंने आपसे कहा था कि यह आन्दोलन राजनीतिक आन्दोलन नहीं है औ राष्ट्रीयता राजनीति नहीं है, अपितु एक धर्म है, एक विश्वास है, एक निष्ठा है उसी बात को आज मैं फिर दोहराता हूं, किन्तु आज मैं उसे दूसरे ही रूप में उपस्थित कर रहा हूं। आज मैं यह नहीं कहता कि राष्ट्रीयता एक विश्वास है, ए‹ धर्म है, एक निष्ठा है, बल्कि मैं यह कहता हूं कि सनातन धर्म ही हमारे लिए राष्ट्रीयता है। यह हिन्दू राष्ट्र सनातन धर्म को लेकर ही पैदा हुआ है, उसी को लेक चलता है और उसी को लेकर विकसित होता है। जब सनातन धर्म की हानि होती तब इसकी अवनति होती है और यदि सनातन धर्म का विनाश सम्भव होता त सनातन धर्म के साथ-ही साथ इस राष्ट्र का विनाश हो जाता। सनातन धर्म ही राष्ट्रीयता। यही वह सन्देश है जो मुझे आपको सुनाना है।"